वर्ष ४ अंक २

जुलाई, १९८८

उन्मीलन

मानसिक हिन्द-स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण,
राजेन्द्रप्रसाद पांडेय, रमेशचन्द्र शाह

दर्शन प्रतिष्ठान

भगवती

सम्पादकीय

उन्मीलन के प्रकाशन के प्रायः आरंभ से ही हमें उच्च स्तर के शुद्ध दार्शनिक लेख पर्याप्त संख्या में प्राप्त करने में कठिनाई आ रही है। परिणामतः हम इसमें ऐसे लेख भी स्वीकार करने का विचार कर रहे थे जो दार्शनिक नहीं होने पर भी चिन्तनात्मक हों। वास्तव में पीछे हमने इस प्रकार के तीन-चार लेख प्रकाशित भी किये थे, तो भी इस स्थिति को पत्रिका की नीति के रूप में स्वीकार नहीं किया था। इस अंक से इसे हम विधिवत् स्वीकार करते हुए संपादक मंडल में डॉ. रमेशचन्द्र शाह को सम्मिलित कर रहे हैं। डॉ. शाह एक उत्कृष्ट दार्शनिक-सांस्कृतिक चिन्तक होने के साथ हिन्दी के मूर्धन्य कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, और निबन्धकार हैं। इनके पाँच काव्य-संग्रह, दो नाटक, पाँच निबन्ध-संग्रह और पाँच समालोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, एक उपन्यास अभी नवंबर में प्रकाशित होने वाला है। डॉ. शाह का संपादक के रूप में सहयोग **उन्मीलन** के लिए बहुत लाभकर होगा, ऐसी हमें आशा है।

इसके अतिरिक्त एक सुसमाचार भी—हमने यहाँ राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के तत्त्वावधान में एक 'उन्मीलन-गोष्ठी' आरंभ की है जिसकी बैठकें प्रायः 20-25 दिन के अन्तर से होती हैं। अब तक इसकी दसेक बैठकें हो चुकी हैं। इन गोष्ठियों में इस विभाग के बहुत से अध्यापकों के अतिरिक्त प्रोफेसर दयाकृष्ण भी नियमित रूप से भाग लेते हैं। इस गोष्ठी का उद्देश्य मुख्यतः उन्मीलन में प्रकाशित अथवा प्रकाशनार्थ प्राप्त लेखों पर विचार करना है, किन्तु अन्य भारतीय दार्शनिक पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों और दर्शन विषयक नवीन भारतीय प्रकाशनों पर भी विचार किया जा सकता है। पिछली बैठकों में प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र जी पांडे के **उन्मीलन** के प्रथम अंक में प्रकाशित लेख **तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन** पर तथा जनवरी १९८८ अंक में प्रकाशित मेरे लेख **तत्त्वमीमांसा का औचित्य** पर विस्तृत चर्चा हुई। प्रोफेसर पांडे के लेख पर डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर ने तथा मैंने अपने विचार लेख-बद्ध भी किये जो डॉ. पांडे को उनके उत्तर के लिए भेजे गए हैं। उनकी प्रतिक्रिया मिलने पर ये तीनों प्रकाशित किये जायेंगे। मेरे लेख पर डॉ. भटनागर ने अपने विचार लेख-बद्ध किये हैं जो मेरे उत्तर के साथ इस अंक में प्रकाशित किये जा रहे हैं। अभी 10 सितंबर की बैठक में डॉ. हर्षनारायण के इस अंक में प्रकाशित लेख पर चर्चा हुई जिसका विवरण इस अंक में संक्षेपतः प्रकाशित किया जा रहा है। भविष्य में भी इन बैठकों की कार्यवाही के विवरणों के सारांश उन्मीलन में प्रकाशित करने का प्रयत्न हम करेंगे। यदि अन्यत्र भी दर्शन विभाग "उन्मीलन-गोष्ठियों" का आयोजन करते हैं तो हमें उनकी कार्यवाहियों का विवरण प्रकाशित करने में प्रसन्नता होगी।

यशदेव शल्य

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक २
जुलाई १९८८

1

विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत वेदान्तों की कुछ मौलिक भिन्नताएं

नारायण शास्त्री द्राविड़

विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत वेदान्तों की दार्शनिक भूमिकाओं का भारतीय दर्शन के एक आधुनिक इतिहासकार डॉ. राधाकृष्णन् ने अपने **भारतीय दर्शन** (इंडियन फिलोसोफी) के द्वितीय खण्ड में विस्तार से विवेचन किया है। यह विवेचन अतीव प्रामाणिक माना जाता है। राधाकृष्णन् की अपनी दार्शनिक भूमिका इन दो वेदान्तों के समन्वय के प्रयास पर ही आधारित है। ऐसा मत न केवल राधाकृष्णन् की दार्शनिक भूमिका के समर्थकों का है, स्वयं राधाकृष्णन् भी ऐसा ही मानते हैं। अद्वैत के मायावाद या विश्वमिथ्यात्ववाद का राधाकृष्णन् ने ऐसा अर्थ लगाया है कि जिससे इस सिद्धान्त की रामानुजीय चिदचित्-सत्यत्व विचार के साथ संगति बैठायी जा सके। शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद तथा रामानुज के अनन्त कल्याण-गुण परमेश्वर की अवधारणाओं के भी राधाकृष्णन् ने क्रमशः ऐसे ही अर्थ किये हैं जो इनके विरोध को केवल प्रातीतिक सिद्ध करें। एक स्वतंत्र चिन्तक होने के नाते राधाकृष्णन् को यह अधिकार है कि वे अद्वैत या विशिष्टाद्वैत के किसी भी सिद्धान्त से कोई भी युक्तिसंगत अर्थ निष्कृष्ट करें। स्वयं वेदान्ती आचार्यों ने ब्रह्मसूत्रों से विभिन्न तथा परस्पर विरुद्ध भी अर्थ निष्कृष्ट करने के प्रयास किये हैं। किन्तु राधाकृष्णन् का प्रयास इस प्रकार का नहीं है। इसमें पूर्वपक्ष को ही उत्तर पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मायावाद के स्पष्टीकरण के सन्दर्भ में जो उद्धरण **ब्रह्मसूत्र भाष्य** तथा उसकी व्याख्या भामती से राधाकृष्णन् द्वारा लिये गये हैं और जिनके द्वारा समन्वयवादी भूमिका का समर्थन किया गया है वे सब पूर्वपक्ष-प्रतिपादक के रूप में इन ग्रंथों में अन्तर्भूत हैं। प्राचीन भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों की विवेचनशैली ही ऐसी होती है कि उसके

अनुसार किसी भी विवेच्य विषय से संबंधित पूर्वपक्ष का प्रथम यथावत् (सभी उपोद्वलक तर्कों के साथ) उपस्थापन किया जाता है और तदनन्तर इस पूर्वपक्ष का विस्तार से निराकरण किया जाता है। राधाकृष्णन् ने अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के समन्वयक के रूप में जिस विचार को अपनाया है वह यह है कि "विश्व की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। एक स्वतन्त्र सत् के रूप में विश्व केवल माया या आभास मात्र है। लेकिन ब्रह्म से अभिन्न सत् के रूप में विश्व को सत् मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यही बात 'तदनन्यत्वं आरम्भण शब्दादिभ्यः' इस सूत्र में बतलायी गयी है ऐसा राधाकृष्णन् मानते हैं। विश्व ब्रह्म से 'अनन्य' है, याने भिन्न नहीं है, अर्थात् 'उसकी ब्रह्म से स्वतंत्र सत्ता नहीं है' ऐसा अर्थ या विचार उक्त सूत्र से भी निष्कृष्ट होता है ऐसा वे समझते हैं। किन्तु भाष्य और भामती की इस विषय से संबंधित चर्चा को पढ़ने पर ऐसा स्पष्टतया प्रतीत होता है कि उक्त विश्व-सत्यत्व का समर्थन एक पूर्वपक्ष के रूप में ही शंकर तथा वाचस्पति को स्वीकार्य है, क्योंकि इस पूर्वपक्ष का उन्होंने उत्तर ग्रंथ में विस्तार के साथ खंडन किया है। ब्रह्म के रूप में भी विश्व की (परतंत्र) सत्ता शंकर तथा वाचस्पति को अमान्य है। राधाकृष्णन् ने पूर्वपक्ष को ही उत्तर पक्ष के रूप में उपस्थित किया है और मूल ग्रंथ से उद्धरण देकर ऐसा आभास निर्माण करने का प्रयास किया है कि शंकर तथा वाचस्पति इस विश्व-सत्यत्व-समर्थन के पक्ष में हैं। यह बात नितान्त भ्रामक है। अपने विचार-स्वातंत्र्य का इस प्रकार दुरुपयोग कर राधाकृष्णन् ने शंकर के प्रति जानबूझकर घोर अन्याय किया है। यदि मूल ग्रंथगत उद्धरणों का इस प्रकार राधाकृष्णन् प्रयोग न करते तो उनका कथन एक स्वतंत्र विचार के रूप में मननीय होता।

वास्तविकता यह है कि शंकर तथा रामानुज की दार्शनिक भूमिकाओं के बीच इतना विरोध है कि उनका आंशिक समन्वय भी असंभव है। यह तथ्य स्वयं रामानुज अच्छी तरह जानते थे। इसीलिये उन्होंने अपने श्रीभाष्य में अद्वैत के आधारभूत प्रत्येक विचार पर कठोर आघात किये हैं। उत्तरकालीन विशिष्टाद्वैती पंडितों ने अद्वैत–विरोध की यह भूमिका ऐसी ही कठोर बनाये रखी है। मूल ग्रंथों का अध्ययन न किये हुए लोग 'अद्वैत' शब्द का 'विशिष्टाद्वैत' इस संज्ञा में समावेश देखकर भ्रान्त हो जाते हैं। वे समझने लगते हैं कि संभवतः इन दो दर्शनों में ऊपरी विरोध के बावजूद भी मूलभूत साम्य है। सगुण परमेश्वर तथा निर्गुण ब्रह्म, जो विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत के आधारभूत तत्त्व हैं, एक-दूसरे से अभिन्न ही हैं, क्योंकि जो उपासना का विषय है वही बुद्धि (या तर्क) का भी आपाद्य है। यह वास्तव में वस्तुगत भेद न होकर दृष्टिगत भेद ही है।

इस लेख में इन दो वेदान्तों के आत्यंतिक विरोध का स्पष्टीकरण इनकी आधारभूत तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा के विरोध को उद्घाटित करते हुए प्रस्तुत किया जायेगा। इस स्पष्टीकरण से संबद्ध कुछ विस्मयकारक तथ्य, जो आज तक किसी भी विचारक ने प्रकाश में नहीं लाये, यहां उपस्थित किये जायेंगे।

सर्वप्रथम इन वेदान्तों के इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण भेद की ओर ध्यान देना चाहिये कि अद्वैत वेदान्त ही 'दर्शन' की संज्ञा का पात्र है जबकि विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन न होकर 'थियोलोजी' या ईश्वर अथवा दिव्यता की मीमांसा है। यह विशिष्टाद्वैत की न्यूनता-

निदर्शक बात न होकर उसके बुद्धि या तर्क से भिन्न आधार पर अधिष्ठित होने की सूचक है। अद्वैत विश्व के विभिन्न अनुभवों के अन्तर्गत असंगतियों, अन्तर्विरोधों तथा उनकी हेयता के मानसिक प्रत्ययों से प्रेरित होकर विश्व की सत्यासत्यता के बारे में चिन्तन के लिये प्रवृत्त होता है। यह चिन्तन उसे इस निष्कर्ष पर ला पहुँचाता है कि विश्व का वास्तविक स्वरूप बुद्धिगम्य नहीं है। वह सदसद्-विलक्षण, अतएव अनिर्वचनीय अथवा मिथ्या है। किन्तु मिथ्या होते हुए भी विश्व का प्रतिभास होता है। प्रतिभास रूप से कम से कम विश्व सत् ही है। इस प्राति-भासिक सत्ता का आधार, याने जिस सत्त्व या तत्त्व की ही स्वीय सत्ता विश्व के प्रतिभास के रूप में प्रकट होती है, वह सत्य या तत्त्व ब्रह्म है जो विश्व से नितांत भिन्न एवं उसका अधिष्ठान है। इस तत्त्व का अद्वैती चिन्तक को चिन्तन की अवस्था में साक्षात्कार नहीं हुआ करता। वह तो आपाद्यापादक भाव की प्रक्रिया की सहायता से विश्व की भासमान सत्यता के आधार पर उसके आपादक ब्रह्म की सत्यता के निष्कर्ष पर पहुँचता है। यहां यह बात लक्षणीय है कि अद्वैत बौद्धिक प्रक्रिया का उपयोग बुद्धि की न्यूनता या सत्य के ग्रहण में असमर्थता को प्रकाश में लाने के लिये तथा उसके जरिये बुद्धि से परे परब्रह्मरूप तत्त्व के आपादन के लिये करता है। किन्तु ऐसा होते हुए भी अद्वैत का चिन्तन प्रारंभ से अंत तक बुद्ध्यधिष्ठित ही रहता है। बुद्धि से ब्रह्म का अनुभव भी प्राप्त होता है ऐसा अद्वैत नहीं कहता। ब्रह्मानुभव तो ज्ञान-योग (या निदिध्यासन) की साधना से ही संभव है ऐसा अद्वैत मानता है। यह साधना चिन्तन के अपने लक्ष्य तक पहुँच जाने पर ही शुरु की जा सकती है।

विशिष्टाद्वैत की शुरुआत चिन्तन से न होकर साक्षात्कार से होती है। यह साक्षा-त्कार विश्व की दिव्यता की या उसके ईश्वर से व्याप्त होने की आंतरिक अनुभूति है जो अपने आप, बिना किसी कारण की प्रक्रिया के, किसी व्यक्ति विशेष के मन में प्रकट होती है। विश्व में सब प्रकार के दुःख, कठिनाइयां तथा असंगतियां दृष्टिगोचर होती रहने पर भी ईश्वर के विषय में श्रद्धा तथा भक्ति की भावना से जिन लोगों के हृदय ओतप्रोत हैं उन्हें विश्व की दिव्यता के संबंध में किंचित् भी संदेह नहीं होता। वे अच्छी-बुरी समझी जाने वाली सब प्रकार की बातों को ईश्वर के असीम ऐश्वर्य की ही लीलामय अभिव्यक्ति मानते हैं। तर्क या बुद्धि के लिए यह बात नितांत अगम्य है। जो बात दुःखमय प्रतीत होती है उसे बुद्धि किसी भी प्रकार सुखमय नहीं मान सकती। और यदि उत्स्फूर्त रूप से मनुष्य के अन्तरंग से ही ईश्वर के विश्वव्यापी सत्यत्व की अनुभूति न फट पड़े तो कोई भी तर्क इस अनुभूति को उत्पन्न नहीं कर सकता। विश्व की दृश्य दुःखमयता से तो किसी भी तर्क-प्रक्रिया के आधार पर ईश्वर की सत्यता तक कोई पहुँच नहीं सकता। विश्व में ईश्वर की व्याप्ति की बात तो तर्क से समझी ही नहीं जा सकती जब ऐश्वर्य और दुःख का आत्यंतिक विरोध एक अनिवार्य तथ्य के रूप में सदैव सम्मुख उपस्थित हो। इस कारण विश्व की दिव्यता एक भक्त या उपासक या आध्यात्मिक साधक के लिए एक अनन्य साधारण प्रदत्त ही मानना होगा। इस प्रदत्त का ही सतत चिन्तन-मनन के द्वारा परिष्कार करते हुए परिपूर्ण परमात्म-साक्षात्कार की स्थिति तक पहुँचना यही विशिष्टाद्वैती विचार का परम लक्ष्य है। परिपूर्ण साक्षात्कार की अवस्था में भक्त की अपने परमात्मा के भिन्नत्व की भावना समाप्त हो जाती है। वह अपने को परमात्मा की सत्ता से उसी प्रकार व्याप्त मानने लगता है जैसा वह

विश्व को समझता है। उसकी अपनी सत्ता परमात्म-सत्ता की विशेष सूचक बन जाती है जिससे उसका सांसारिक जीवन परमात्मसत्ता की अभिव्यक्ति का ही एक माध्यम बन जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विशिष्टाद्वैतीय चिन्तन-प्रक्रिया अद्वैतीय चिन्तन-प्रक्रिया के समान सघन बौद्धिक न होकर भावनाविशेष (भक्ति तथा श्रद्धा) के परिपाक (या उत्कटता) पर मुख्यतया आधारित है। इस कारण विशिष्टाद्वैत को विश्व की दिव्यता की मीमांसा समझना ही तर्क-संगत होगा।

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का दूसरा विरोध उनकी उक्त बौद्धिक तथा भावनिक भूमिकाओं से ही निगमित है। अद्वैत के विचार में किसी भी प्रकार का द्वैत बुद्धि के लिये आकलनार्ह या सुसंगत नहीं हो सकता। सभी द्वैत 'सदसदनिर्वचनीय' ही होते हैं। एक अत्यंत परिचित द्वैत को लें। 'नील घट' एक द्वैत युक्त तथ्य है जिसमें द्रव्य तथा गुण की सत्ताओं का संश्लेषण दृष्टिगोचर होता है। यहां प्रश्न होगा कि नील-रूप गुण की सत्ता का घट-रूप द्रव्य की सत्ता के साथ कैसा संबंध है? यदि घट की अपनी सत्ता हो और वह (इस कारण) स्वयंपूर्ण हो तो वह नील की सत्ता कैसे स्वीकार या आत्मसात् करेगा? नीलसत्ता घटसत्ता पर आरोपित हो सकती है और तब घटसत्ता के लिए वह बाह्य ही रहेगी। घटसत्ता में उसका समावेश नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार यह समावेश संभव मान लिया जाय तो एक घट-सत्ता ही इस समावेश के अनंतर शेष रह जायगी। उस स्थिति में घट-सत्ता का 'नील घट' इन शब्दों से वर्णन करना उचित नहीं होगा। यह वर्णन तभी सत्य माना जायगा जब घट और नील पूर्णतया एक हों, अर्थात् घट ही नील हो और नील ही घट हो। ऐसी तो वस्तु-स्थिति नहीं है। नील का घट से आकस्मिक तथा अस्थायी संबंध ही माना जाता है। ऐसी अवस्था में इन दोनों का अभेद स्वीकार करना कदापि तर्कसंगत नहीं होगा। यदि किसी तरह घट और नील को पूर्णतया अभिन्न अतः घटसत्ता को नीलसत्ता-समावेशक मान भी लें तो दो प्रश्न उपस्थित किये जा सकते हैं, एक यह कि जैसे 'घट नील है' ऐसे वर्णनपरक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वैसे ही 'नील घट है' ऐसा नील के वर्णनपरक शब्दों का भी प्रयोग क्यों संभव नहीं होता? दूसरा प्रश्न यह होगा कि घट और नील सर्वथा अभिन्न होने के कारण 'घट नील है' यह प्रयोग 'घट घट है' इस प्रयोग के समान पुनरुक्ति रूप क्यों नहीं माना जाता? सभी वर्णनपरक या उद्देश्य-विधेययुक्त वाक्यों के अर्थ के संबंध में यह कठिनाई उपस्थित की जा सकती है। किसी भी उद्देश्य के संबंध से विधेय पद के द्वारा जो विधान किया जाता है वह कदापि सही नहीं हो सकता। उद्देश्य वस्तु स्वयंपूर्ण हो तो उसके संबंध में किसी भी विशेषता, धर्म या गुण का विधान ऊपर विशद किये मुताबिक या तो दो सत्ताओं के विरोध का या पुनरुक्ति का ही कारक होगा। यही नहीं, जो सत्ताएं अभिन्नतया अवस्थित हैं उनका भिन्नतया प्रतिपादन कैसे विपर्यस्त नहीं यह बात स्पष्ट किये बिना किसी भी वाक्य को अर्थपूर्ण मानना नितांत कठिन हो जायगा।

इन सारी कठिनाइयों का विचार कर ही अद्वैत वेदान्तियों ने सभी द्वैतों को—गुण-गुणी, द्रव्य-जाति, गुण-जाति, अवयव-अवयवी आदि को—अनिर्वचनीय या मिथ्या ठहराया है। सत्य या परमार्थ सत्य अद्वैत तत्त्व है जो निर्विकल्पक अथवा अखण्डाकार ज्ञानवृत्ति में ही

प्रकट हो सकता है। विशिष्टाद्वैत का द्वैत तथा उसके ज्ञान के संबंध में विचार अद्वैत के उपर्युक्त विचारों के बिल्कुल विपरीत है। उक्त गुण-गुणी आदि के कथित द्वैत को विशिष्टाद्वैती द्वैत ही नहीं समझते। गुण-गुणियों आदि को एक-दूसरे की आवश्यकता होती है। ये एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते क्योंकि गुण-रहित द्रव्य द्रव्य और अनाधार गुण गुण नहीं हो सकते। गुण-विशिष्ट द्रव्य एक 'विशिष्ट' रूप इकाई का या अद्वैत का निर्माण करता है जिस का अपने घटक गुण तथा द्रव्य से स्वतंत्र अस्तित्व मानना ही उचित है। केवल निराधार गुण का या आधारता-रहित द्रव्य का ज्ञान 'ज्ञान' संज्ञा के लिए पात्र ही नहीं है। अद्वैतियों ने मिथुन या द्वैत की अवधारणा के संबंध में पूर्वोल्लिखित जो आपत्तियां उठाई हैं उनका विशिष्टाद्वैतीय निराकरण इस प्रकार होगा : शुद्ध घट को स्वत:पूर्ण सत् समझना उचित नहीं है। नील आदि गुणों से युक्त घट ही पूर्ण सत् समझा जा सकता है। वैसे तो नीलादियुक्त घट भी पूर्ण-सत् नहीं है। पूर्ण सत् तो परमात्मा है जिसके साक्षात् या पारंपरिक तथा आंशिक गुणों के रूप में ही संसार के वस्तु मात्र का ग्रहण करना आवश्यक है। घट का नील होना जिस वस्तु-स्थिति का द्योतक है वह वस्तुस्थिति परमात्मा की विश्वव्यापिनी सत्ता से आप्यायित होने के कारण ही अपने विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त करती या एक तथ्य विशेष के रूप में रूपायित होती है। अत: घट-पटादि पदार्थ, उनके गुण, जातियां आदि न अलग-अलग न विशिष्ट रूप में ही पूर्ण तथ्य हैं। पूर्ण तथ्य तो अनंत गुण-विशिष्ट परमात्मा है जिसके स्वरूप की आंशिक अभिव्यक्ति ही वस्तुओं, उनके धर्मों तथा उनसे घटित तथ्यों के द्वारा होती है। ये तथ्य जितने ही अधिक व्यापक या समावेशक होंगे उतने ही परमात्म सत्ता के अच्छे अभिव्य-ञ्जक होंगे। इस कारण अद्वैत का मिथुनाद्वैत या विशिष्ट सत्ता-विषयक विचार विशिष्टाद्वैत के अनुसार नितांत असत् मानना पड़ता है। विशिष्ट सत्ता तो है ही, वास्तव में वही सत् है। गुणातीत, धर्मातीत वस्तु की सत्ता विशिष्टाद्वैत के लिये वंध्यापुत्रवत् ही है।

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के इस मतभेद के पीछे उनकी तत्त्वमीमांसा प्रधानतया ज्ञान (या भक्ति) मीमांसा-प्रधान भूमिकाओं का आधार है। अद्वैती यह नहीं मानते कि दो स्वयंपूर्ण सत्ताओं के बीच ऐसा सबंध प्रस्थापित हो सकता है जिसके कारण वे ऐसा विशिष्ट (या तथ्य) निर्माण करें जिसमें एक सत्ता दूसरी सत्ता पर किसी भी प्रकार आश्रित हो। द्रव्य-गुण या द्रव्य-जाति आदि परस्पर संबद्ध होकर गुणी या जातिमय द्रव्य-रूप विशिष्ट के निर्मायक माने जाते हैं, लेकिन ऐसा मानना तर्कसंगत नहीं है। गुण द्रव्य पर आश्रित होने के कारण ही गुण कहे या समझे जाते हैं। द्रव्य गुण पर आश्रित नहीं होते, भले ही वे गुण-रहित होकर कभी न रह पायें। ऐसी ही बात जाति की भी है। द्रव्यत्व जाति को द्रव्य की आधार के रूप में आवश्यकता होती है। (द्रव्य के न होने या पूर्णतया नष्ट हो जाने पर द्रव्यत्व बना रहेगा या नहीं इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं। कुछ नैयायिक मानते हैं कि द्रव्य न हो तो द्रव्यत्व का अस्तित्व नहीं होगा किन्तु उसकी सत्ता बनी रह सकती है। कुछ अन्य नैयायिक द्रव्य न होने पर द्रव्यत्व का मठाका में अस्तित्व संभव मानते हैं। (वास्तव में कुछ के अनुसार आकाशादि द्रव्य अविनाशी होने से द्रव्य के पूर्णतया नष्ट हो जाने की स्थिति ही उत्पन्न नहीं हो सकती।) अत: द्रव्यत्व की सत्ता को द्रव्य-सत्ता पर आश्रित मानना

होगा। इसका अर्थ यह है कि जाति-गुणादि की सत्ता आश्रय-द्रव्य की सत्ता के बिना कल्पनार्ह नहीं है। ऐसी स्थिति में शुद्ध द्रव्य की ही सत्ता (वह स्वयंपूर्ण होने के कारण) स्वीकार करना तर्कसंगत होगा। यह तत्त्वमीमांसीय वस्तुस्थिति है।

विशिष्टाद्वैत द्रव्य और गुण या जाति की अलग-अलग सत्तायें मानने के लिए बाध्य नहीं है। लेकिन द्रव्य और गुणादि एक अथवा अभिन्न ही हैं ऐसा भी मानना विशिष्टाद्वैत के लिये अनिवार्य नहीं है। ये दोनों इस संप्रदाय की परिभाषानुसार 'अपृथक् सिद्ध' तत्त्व हैं, अर्थात् गुण द्रव्याश्रित होने के कारण ही यदि गुण हैं तो द्रव्य गुणाश्रय होने के कारण ही द्रव्य है यह भी स्वीकार करना होगा। एक-दूसरे से अलग होकर ये दोनों रह ही नहीं सकते। इसका मतलब यह हुआ कि इन दोनों की परस्परा-पेक्ष एक ही सत्ता है। अतः सत्ता-द्वैविध्य का प्रश्न ही यहां उपस्थित नहीं होता। यदि दो सत्तायें नहीं हैं तो द्रव्य-गुणा दो (या अधिक) सत् कैसे यह प्रश्न भी यहां उपस्थित नहीं होता। गुण और द्रव्य का अपृथक्सिद्धि-रूप संबंध ही ऐसा है कि जिस के कारण द्रव्य-गुण द्वैत का निर्माण ही नहीं होता। लेकिन द्वैत यदि नहीं तो द्रव्य-गुणादि एक ही हैं ऐसा समझना भी सही नहीं। एकता तथा अद्वैत में सहज अंतर है। सामान्यानुभव के विषयों के स्वरूप पर से ही इस अंतर को ठीक समझा जा सकता है। नील घट नील तथा घट का समुच्चय नहीं समझा जाता। किन्तु नील ही घट है या घट ही नील है ऐसा भी कोई नहीं समझता। नील और घट के बीच कोई बाह्य संबंध ही है ऐमी भी सामान्य धारणा नहीं होती। जो भी संबंध इन दोनों के बीच बुद्धिगोचर होता है वह इन दोनों को एक रूप न बनने देते हुए भी अनेक रूप या द्वैत रूप बनने से भी रोकता है। यही विशिष्ट का एकता से कम और अनेकता या द्वित्व से अधिक (या उसका अतिशायी) ऐसा एक विशेष प्रकार का 'पृथक् सिद्धि' संज्ञक संबंध द्रव्य-गुणों को जोड़कर उनके विशिष्ट का निर्माण करता है। इस संबंध को नैयायिक तादात्म्य-रूप अथवा 'समवाय-रूप' मानते हैं जो तर्कसंगत नहीं है। धर्मभेद होते हुए भी धर्मियों के बीच किंचित् भी भेद न हो वहीं पर धर्मियों का तादात्म्य-संबंध माना जा सकता है। उक्त उदाहरण में नीलत्व और घटत्व जैसे भिन्न हैं वैसे ही नील और घट के बीच भी (आंशिक) भेद है ही। अन्यथा घट सर्वदा नील होता और नील घट ही होता। इस कारण नील और घट के सबंध को तादात्म्य-रूप समझना उचित नहीं। इस संबंध को 'समवाय' रूप भी नहीं माना जा सकता। समवाय को एक अतीव भिन्न संबंध वैभाषिकों ने मान रखा है। यह संबंध स्वयं अविनाशी या नित्य होते हुए भी उसके संबंधी नित्य, अनित्य या दोनों हुआ करते हैं। साथ ही संबंधी अनेक होते हुए भी यह संबंध सभी संबंधियों के लिये एक ही है ऐसा भी वैशेषिक मानते हैं। इस संबंध की एक ही स्वीकारार्ह विशेषता है और वह यह है कि यह संबंध संयोग के समान बाह्य न होकर आंतरिक होता है जिसके कारण इसके संबंधियों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। लेकिन वैशेषिक मतानुसार द्रव्य तथा गुण परस्पर विनाकृत होकर रह सकते हैं। जैसे उत्पत्ति-क्षण में द्रव्य गुण-विरहित होता है। गुण भी अपने आधार के नष्ट हो जाने के क्षण में क्षण-मात्र महा काल में अवस्थित होता है। इन बातों को देखते हुए द्रव्य-गुण के संबंध को ईश्वर तथा उसके चिदचिद्रूप गुणों के संबंध जैसा समझना उचित नहीं होगा। इस कारण से भी 'अपृथक् सिद्धि' रूप संबंध की

विशिष्टाद्वैत में कल्पना की गयी है। इस संबंध में न तादात्म्य है, न समवाय, न अभेद ही। पश्चिमी चिन्तक हेगल के बौद्धिक कूटस्थ के अन्तर्गत विचारों के आपाद्यापादकभाव-रूप पारस्परिक संबंध के जैसा भी यह संबंध नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक भाव एक तार्किक संबंध है जो विभिन्न विचारों को संघटित करता है जबकि उक्त संबंध परमार्थ-भूत तत्त्वों को एक-दूसरे से संबद्ध कर उनके द्वारा एक विशिष्ट की सत्ता का निर्माण करने में सहायक होता है।

प्रोफेसर्ज़ कोलोनी,
हनुमाननगर, नागपुर

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक २
जुलाई १९८८

2

संस्कृति और समाज : अधिष्ठान की समस्या*

यशदेव शल्य

समाज और संस्कृति के स्वरूप को लेकर विचारकों में बहुत मूलगामी मतभेद हैं। ये मतभेद दो प्रकार के कहे जा सकते हैं, एक शास्त्रमूलक और दूसरे सिद्धान्तमूलक। समाज और संस्कृति दोनों, विशेष रूप से इनमें से दूसरा, जितने समाजशास्त्र के विचार–विषय होते हैं उतने ही इतिहासशास्त्र और दर्शनशास्त्र के भी विचार–विषय होते हैं, और ये शास्त्र बहुत भिन्न–भिन्न प्रकार से इन विषयों का अवधारण करते हैं। समाजशास्त्री इन्हें विशिष्ट मानव-समूह के काल-विशेष में व्यवहार के सन्दर्भ में देखता है और इतिहासशास्त्री एक विकास-परंपरा के रूप में देखता है। इनसे भिन्न दार्शनिक सामाजिक अस्तित्व को, और इस प्रकार समाजविशेष से पृथक् समाज-तत्त्व और संस्कृति-तत्त्व को ही अपना विचार-विषय बनाता है। इस प्रकार शास्त्र-भेद के अनुसार विषयों के स्वरूप में बहुत गहरा भेद हो जाता है। किन्तु इन तीन शास्त्रों में समन्वय और परस्पर संप्रेषण संभव है, क्योंकि आखिर ये एक ही वस्तु के तीन आयाम हैं। किन्तु सिद्धान्तमूलक मतभेदों में समन्वय और संप्रेषण संभव नहीं होता, क्योंकि सिद्धान्त से विषय के स्वरूप में मौलिक भेद घटित हो जाता है। उदाहरणत: समाज, और इस प्रकार संस्कृति भी, प्राकृतिक है या मानवीय सर्जन है? यदि प्राकृतिक है तो प्रकृति का क्या स्वरूप है? और यदि मानवीय कृति है तो कर्त्ता का क्या स्वरूप है? इन प्रश्नों को लेकर अनेक सिद्धान्त-भेद संभव हैं और वास्तव में हैं। ये सिद्धान्त आत्यन्तिक हैं या कि स्वयं इन पर भी विचार और निर्णय किया जा सकता है, इस प्रश्न पर यहां हम विचार नहीं कर सकते, क्योंकि इस पर विचार हमें गहरे दार्शनिक युक्ति-विमर्श में ले जाएगा जो यहां प्रासंगिक नहीं है। किन्तु तब भी इतना तो कहा जा ही सकता है कि व्यवहार में ये सिद्धान्त आत्यन्तिक जैसे ही

---

*प्रस्तुत लेख मेरी लेखनाधीन पुस्तक "समाज-तत्त्व की चित्-मीमांसा" का प्रथम अध्याय है। यह पुस्तक भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् की वरिष्ठ फैलोशिप के तत्वावधान में लिखी जा रही है।

हैं, अर्थात् इनका आधार युक्ति नहीं होकर रुचि : व्यक्तिगत या सांस्कृतिक ही होता है क्योंकि युक्ति का यह स्वरूप है कि वह कभी अंतिम नहीं होती। किन्तु दर्शन के अतिरिक्त कोई शास्त्र अपनी आधार-प्रतिज्ञाओं पर विचार नहीं करता और परिणामतः उनमें स्वीकृत सिद्धान्त पूर्वस्वीकृत के रूप में ही रहते हैं। वास्तव में व्यवहार में दार्शनिक मतभेदों में भी उनकी मूल प्रतिज्ञाएं अपरीक्षित और इस प्रकार रुचिमूलक ही रहती हैं, यद्यपि एक दार्शनिक के लिए अपनी मूल प्रतिज्ञा पर विचार भी अपेक्षित होता है और इस प्रकार वह मूल प्रतिज्ञा नहीं रहती। किन्तु यदि ये सिद्धान्त रुचिमूलक ही हों तो इससे बहुत अरुचिकर निष्कर्ष निकलता है—कि ये वास्तव में सिद्धान्त नहीं होकर सिद्धान्ताग्रह हैं, क्योंकि सिद्धान्त से रुचिमूलक नहीं, युक्तिमूलक होना अपेक्षित होता है।

ये सैद्धान्तिक मतभेद विषयों और उनसे सम्बन्धित शास्त्रों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं इसके उदाहरण के रूप में यहां हम मन को लेंगे, क्योंकि मन–विषयक सभी अध्ययन समाज और संस्कृति के प्रश्न से भी केन्द्रीय रूप से सम्बन्धित हैं। 19 वीं शताब्दी में, और 20 वीं शताब्दी के भी प्रथम तीन दशाब्दों में, यूरोप ने प्रमुख रूप से मन को व्यवहार से परिभाषित किया था। मन के सम्बन्ध में यह एक अत्यन्त मूलगामी महत्त्व का सिद्धान्त है जो तत्कालीन यूरोप की संपूर्ण मनःस्थिति का भी द्योतक है। आंग्ल-अमरीकी और रूसी चिन्तक, विशेषतः प्रथम दो देशों के, अब भी इस सिद्धान्त से मुक्त नहीं हुए हैं। मन-विषयक इस दृष्टिकोण को यदि हम स्वीकार कर लेते हैं तो समाज और संस्कृतिविषयक उपर्युक्त प्रश्नों में निर्णय सहज ही हो जाता है कि समाज एक प्राकृतिक वस्तु या व्यवस्था है और संस्कृति इस व्यवस्था का क्रिया-व्यापार। इस सिद्धान्त के विपरीत प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे की पुस्तक **दि मीनिंग एंड प्रॉसेस ऑफ कल्चर** का पहला ही वाक्य है कि "संस्कृति प्राकृतिक नहीं है क्योंकि वह अर्जित होती है।" किन्तु यदि अर्जन करने वाला ही प्राकृतिक हो तो संस्कृति के उसका अर्जन होने से क्या अन्तर पड़ेगा? कुत्ता और तोता बहुत सी बात अर्जित करते हैं, किन्तु इससे उनके ये अर्जन अप्राकृतिक नहीं हो जाते। "अर्जित" का विपरीतार्थक शब्द "सहज" [इंस्टिंक्टिव] है, जो इस अर्थ में प्राकृतिक होता है कि इस प्राणि-व्यवहार का अधिष्ठान व्यष्टि-प्राणी[1] की देह में या देहाधिष्ठित चित्त में नहीं होकर अतिवैयष्टिक प्रकृति है। किन्तु यहां प्रकृति एक यांत्रिक क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में कल्पित नहीं होकर योजना-कर्ता के रूप में कल्पित होती है। वास्तव में सहज व्यवहार या क्रियाओं में जो अद्भुत कौशल और जटिल योजना परिलक्षित होती है उसमें प्रकृति एक कुशल योजना-कर्त्ता के रूप में ही प्रकट होती है, चाहे उसे आत्मचेतन कर्त्ता नहीं भी मानें। किन्तु इस पक्ष को यहां छोड़ते हुए कहा जा सकता है कि सहज प्रवृत्तिमूलक क्रियाएं अर्जित नहीं होतीं जबकि आवेगात्मक और ज्ञानात्मक क्रियाएं अर्जित होती हैं। किन्तु पशु में ये अर्जित होने पर भी प्राकृतिक ही कही जा सकती हैं। केवल मनुष्य की अर्जित क्रियाएं ही ऐसी हैं जो प्राकृतिक नहीं होकर अप्राकृतिक होती हैं, अर्थात् इन क्रियाओं

---

1. 'व्यष्टि' पद का प्रयोग हम आत्म-अचेतन [आत्मचेतना-रहित] एक देह से संलग्न विषयी के लिए करते हैं और 'व्यक्ति' पद का प्रयोग आत्मचेतन एक देवान् विषयी के लिए।

का अधिष्ठान कर्त्ता में होता है। क्रिया का अधिष्ठान कर्त्ता में कहने का अर्थ है कि कर्त्ता आत्म-नियुक्त, आत्मतंत्र होता है। इन क्रियाओं में सांस्कृतिक क्रियाएं भी हैं। किन्तु संस्कृति मनुष्य की कृति किस अर्थ में है इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, क्योंकि 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग कभी मानव-व्यक्ति के अर्थ में किया जाता है और कभी मानव-जाति के अर्थ में, और प्रयोग करने वाले बहुत बार इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं होते कि वे इस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में कर रहे हैं। इस व्यामिश्र की ओर हमने अपने एक और लेख में भी ध्यान आकर्षित किया है।[2] अब, संस्कृति यदि जाति-मानव की कृति है तो एक प्रकार से उसे उसकी प्रकृति ही कहा जा सकता है जिस प्रकार अध्यवसायात्मक ज्ञान-शक्ति को उसकी प्रकृति कहा जा सकता है उसकी कृति नहीं। यदि यह व्यक्ति-मानव की कृति है तो निश्चित ही यह प्राकृतिक नहीं कही जा सकती। किन्तु तब यह व्यक्ति-मानव की कृति कैसे कही जा सकती है यह निश्चय ही स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। यहां बरबस जाति के अस्तित्व-सम्बन्धी विवाद का ध्यान हो आता है, किन्तु यहां यह ध्यातव्य है कि जाति के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाले इसका अस्तित्व उतना ही कृमि-कीट या पशु में अस्वीकार करते हैं जितना मनुष्य में। यहां इस प्रसंग को छोड़ा जा सकता है और जाति को समान-व्यष्टियों के समान-व्यवहार या समान-मानसिकता के अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है। जब मनुष्य को विवेकशील, आत्मचेतन आदि कहा जाता है तब 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग जाति-मानव के अर्थ में ही किया जाता है, जाति के अस्तित्व सम्बन्धी कोई भी सिद्धान्त रखते हुए। 'जाति' शब्द के इस अर्थ का एक रूप कांट-सम्मत "अतिक्रामी चैतसिक संरचना" अथवा बौद्ध-सम्मत "अनादि वासना" है। द्रष्टव्य है कि सभी बौद्ध जाति या सामान्य के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं किन्तु तब भी अनादि वासना की अवधारणा को स्वीकार करते हैं जो व्यक्ति से पूर्व और स्वयं उसकी भी कारण होती है। अब उनके अनुसार विकल्प अनादि वासना-मूलक है, और तब यहां कहा जा सकता है कि संस्कृति विकल्पमूलक है। तब क्या संस्कृति कृति कही जा सकती है? इसका उत्तर हो सकता है कि विकल्प ही किसी क्रिया को कर्म और उससे प्रतिफलित को कृति बनाता है। किन्तु प्रतिफलित के कृति होने के लिए यह भी अपेक्षित है कि उसका कर्त्ता स्वतंत्र, आद्य सर्जक हो। किन्तु विकल्प के अनादिवासनामूलक होने पर वह आत्मतंत्र या आद्य नहीं रहता और परिणामतः उससे कृत कुछ कृति नहीं रहता। उदाहरणतः पक्षी के घोंसले को हम उसकी कृति नहीं कहते जबकि एक चित्र, कविता या लेख को कृति कहते हैं। मनुष्य-रचित सब वस्तुओं को भी रचने वाले व्यक्ति की कृति नहीं कहा जाता, उदाहरणतः भवन बनाने वाले राजों-मजदूरों को हम भवन के कृतिकार अथवा भवन को उनकी कृति नहीं कहते। चित्र अथवा कविता को कृति कहने के पीछे हमारी यह मान्यता रहती है कि चित्रकार या कवि में उसकी कल्पना अपूर्वतः उद्भूत हुई है, वह उस का आद्य रूप से साक्षात्कर्ता है। इस प्रकार यदि विकल्प और कर्म अनादि वासनामूलक हों तो चित्र या काव्य उचित अर्थ में कृतियां नहीं कहे जा सकते। अब संस्कृति कृति

---

2. समाज-दर्शन : भूत और भाव्य, उन्मीलनः वर्ष २, अंक.

है या प्रकृति इस निर्णय को आगे के लिए स्थगित कर हम यहां उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में विचार करना चाहेंगे–कि इसका कर्त्ता व्यक्तिमूलक है या कि अतिवैयक्तिक ? दूसरे शब्दों में, संस्कृति और समाज क्रमशः व्यक्तिगत चित्तवृत्तियों की और व्यक्ति-देहियों की समूहवाचक संज्ञाएं हैं या कि व्यक्ति के समानान्तर अस्तित्व हैं? साधारणतः संस्कृति को कृति कहने वाले, अथवा कृति नहीं कह कर उसे समाज की भौतिक वस्तुस्थितियों से उद्‌भूत मानने वाले भी उसे अस्तित्वतः व्यक्तिमूलक ही मानते हैं । उदाहरणतः मार्क्स-एंजल्स के अनुसार "सामाजिक संरचना और राज्य निरन्तर विशिष्ट व्यक्तियों की जीवन-प्रक्रिया में से उद्‌भूत होते हैं, व्यक्तियों के उस रूप से जो यथार्थतः उनका है, अर्थात् उनकी क्रियाओं, भौतिक उत्पादनों, भौतिक सीमाओं और परिस्थितियों से, जैसी ये उनकी धारणाओं से निरपेक्ष रूप से होती हैं ।"[3]

यहां व्यक्तियों और उनकी क्रियाओं आदि के तत्त्व की मानसिकता और भौतिकता के प्रश्न को छोड़ते हुए, जो यहां हमारे लिए अप्रासंगिक है केवल समाज की व्यष्टिमूलकता का प्रतिपादन ही चर्चा का विषय है । उनका यह प्रतिपादन उनके इस सिद्धान्त के बावजूद है कि समाज की आर्थिक उत्पादन की भौतिक परिस्थितियां ऐतिहासिक विकास की निर्धारक होती हैं । इसी प्रकार पांडे जी के अनुसार भी "संस्कृति का उद्‌भव व्यक्ति-चित्त (इंडिविडुअल साइके) में प्रातिभ साक्षात्कार के रूप में होता है और यह साक्षात्कारात्मक प्रातिभ के रूप में सामाजिक परंपरा में प्रवेश करता है ।"[4] इसी प्रकार क्रोबर के अनुसार भी "संस्कृति का अधिष्ठान या निवास स्पष्टतः मानव-व्यक्तियों में है (जिनके व्यवहार से : जिसमें संस्कृति-भिन्न तत्त्व भी रहते हैं) संस्कृति अनुमित या कल्पित की जाती है ।"[5] वास्तव में क्रोबर भी संस्कृति को इस प्रकार स्वतंत्र सत्त्व से रहित नहीं देखता, जैसाकि उसकी दो पुस्तकों **नेचर ऑफ कल्चर** और **कान्फिगुरेशन्स ऑफ कल्चर-ग्रोथ** से स्पष्ट है। दुर्खाइम यहां इन दोनों से आगे जाता है । उसके अनुसार सामूहिक चेतना "ऐसे विश्वासों और भावनाओं के समग्र को कहा जा सकता है जो किसी समाज के औसत सदस्यों में सर्वसाधारण होते हैं । इन विश्वासों और भावनाओं के संस्थान का व्यक्ति-विशेषों से स्वतंत्र अपना एक निजी जीवन होता है । यह सामूहिक चेतना, जिसका अस्तित्व व्यक्तियों की चेतना में विद्यमान विश्वासों और भावनाओं पर निर्भर करता है, व्यक्ति-चेतनाओं से विश्लेषणात्मकतया पृथक् अवधार्य होती है । अस्तित्वतः चाहे उनसे पृथक् अवधारणीय नहीं भी हो । इसके विकास के अपने नियम होते हैं, यह केवल व्यक्ति-चेतनाओं की अभिव्यक्ति या उनका प्रतिफल नहीं होती ।[6] संस्कृति के स्वतंत्र सत्त्व को इस

3. मार्क्स-एंजल्स – दि जर्मन आइडियॉलोजी, (सं.) सी. जे. आर्थर, पृ. 46.
4. "दि मीनिगं एंड प्रॉसेस ऑफ कल्चर", पृ. 2, यहां उल्लेखनीय है कि पांडेजी के अनुसार व्यक्ति-भेद औपाधिक है । इसलिए सामाजिक परंपरा में प्रतिष्ठित होने वाले प्रतीक के लिए यह बिलकुल भी आवश्यक नहीं रहता कि उसके आधारभूत प्रातिभ को व्यक्ति-चित्त में घटित कहा जाय । क्योंकि यह कहना अधिक युक्तिसंगत है कि जिस चित्त में यह घटित होता है उसकी उपाधि समाज होती है ।
5. ए. एल. क्रोबर – "दि नेचर ऑफ कल्चर" लेख-संग्रह में "कॉजिज ऑफ कल्चर' लेख, पृ. 107.
6. रेमांड ऑरी-मेन करेंट्‌स दन सोश्योलोजीकल थॉट, खंड 2 पृ. से उद्धृत.

प्रकार स्वीकार करते होने पर भी इन विचारकों के ये उद्धरण अस्तित्वविषयक इस सर्व-साधारण धारणा से मुक्त हो पाने की असमर्थता के द्योतक हैं जिसके अनुसार समाज अन्ततः देहाधिष्ठित व्यक्तियों का समवाय है। हमारे विचार में अस्तित्व-विषयक यह लोक धारणा चित्त के आयामों के सम्बन्ध में गहरी भ्रांति पर आधारित है जिसका निराकरण सामाजिक चित्त या संस्कृति के अस्तित्व को समझने के लिए आधार-भूत महत्त्व का है।

समाज और व्यक्ति दोनों मनुष्यमूलक सत्ताएं हैं। 'मनुष्य' पद चित्त के आत्मचेतन-स्तर का वाचक है। 'आत्मचेतन' पद में 'आत्म' पद वैयक्तिक आत्म-प्रत्यय : अहं-प्रत्ययः का वाचक नहीं होकर चेतना की आत्मोन्मुखता : प्रत्यङ्‌मुखताः का वाचक है। यह आत्मोन्मुखता चित्त द्वारा स्वयं अपनी अवस्थाओं का, अथवा कहें चैत्त अवस्थाओं का, विषयकरण है। यह विषयकरण चित्त को अपनी इन विषयकृत अवस्थाओं के विषयी के रूप में स्थापित कर स्वयं इस विषयी के अनुक्रमशः विषयावधारण की संभावना उत्पन्न करता है। पूर्णतः आत्मचेतन चित्त उसे कह सकते हैं जो नितान्त पारदर्शी रूप में आत्म-विषयकृत होता है। इस प्रकार अनुभूयमान दुःख चित्त की संवेदात्मक अवस्था है, "यह दुःख है" यह उसकी आत्मचेतन अवस्था है। पहली अवस्था में दुःख जबकि अस्तित्वगत है, दूसरी में वह अस्तित्वगत नहीं है, यहां उसका आकार, उसका प्रत्यय, अस्तित्वगत होता है। अर्थात् स्मृत दुःख—"दुःखी था"—और दुःख के अनुभव के ज्ञान—"मैं दुःखी हूं"—में दुःख विषयिता की अवस्था नहीं है, उसकी स्मरण या ज्ञान विषयिता की अवस्था है जिसमें दुःख अपने सामान्यात्मक आकार में प्रस्तुत होता है। अब, अनुभूयमान : अस्तित्वगतः जबकि वस्तु-रूप में विशिष्ट होता है, इसमें विषय-विषयी, ज्ञाता-ज्ञेय, अनुभव-अनुभूत का भेद नहीं होता, किन्तु विषयरूप में उसका आकार सामान्य होता है और वह अनुभव से पृथक् विषयरूपेण विषयी को अवगत होता है। अपने इस स्वरूप के कारण ही वह उसे किसी भी विषयी के लिए और किसी भी अनुभव के लिए गम्य बनाता है। मैं अपने को दुःखी "देख" सकता हूं इसीलिए मैं अपने कल के दुःख का स्मरण कर सकता हूँ, इसी से दूसरों को बता सकता हूँ कि मैं दुःखी हूँ या था। 'दूसरों को बता सकता हूँ' का अर्थ है कि "दूसरे इसे उसी प्रकार जान सकते हैं जिस प्रकार इसे मैं जानता हूँ।" हमारे इस प्रतिपादन पर आपत्ति की जा सकती है कि "मेरे सिर दर्द को केवल मैं ही जान सकता हूँ।" किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है। ऐसा सिर दर्द "मेरा" नहीं होता, यह एक संवेद होता है जो अहं-प्रत्ययाधिष्ठित नहीं होता और परिणामतः जिसमें "आत्म" और "पर" का भेद भी नहीं होता। अहं-प्रत्यय इस संवेद के लिए उसी प्रकार आधेय होता है जिस प्रकार स्मृत या विषयकृत दुःख के लिए होता है। अवश्य अहन्ता का एक आद्य और अतिक्रामी स्तर भी है : क्रुद्ध कुत्ता अन्य कुत्ते पर आक्रमण करते हुए एक आद्य अहंभावापन्न अवस्था में होता है, किन्तु "मैं क्रुद्ध हूँ" अध्यवसाय में अहन्ता और क्रोध दोनों सामान्य रूप से आकार या सामान्य प्रत्यय होते हैं और क्रोध आत्म-सम्बद्ध होता है। प्रत्यय-विषयों की, जिनमें अहं-प्रत्यय भी सम्मिलित है, यह सामान्यता समाज की संभावना की आधार बनती है। यहां उदाहरणार्थ सम्मुख प्रस्तुत मेज़ को लें। इसे मैं देख रहा हूँ। किन्तु मेरे इस दृष्टि-विषय के रूप में यह स्वरूपतः ही परिप्रेक्ष्यात्मक है, जिसे इस स्थान से मैं देख रहा हूँ और अन्य स्थानों

से अन्य संभाव्य या वास्तव प्रेक्षक देख रहे हैं। इसकी यह परिप्रेक्ष्यात्मकता इतनी वास्तविक होती है कि यदि दूसरे देखने वाले मेरे देखने का समर्थन नहीं करें तो मेरे लिए मेरा अपना प्रेक्षण अप्रामाणिक हो जाता है। इस प्रकार यह मेज, वह कुर्सी एक ओर अपने अवगमन में प्रेक्षकों की अनेकता को पूर्वकल्पित करते हैं और दूसरी ओर दर्शक विषयी के रूप में मुझे समान विषयियों के वर्ग में स्थानित करते हैं। जो बात ऐन्द्रिय विषयों के लिए सत्य है वह अतेन्द्रिय विषयों के लिए और भी सत्य है। वास्तव में यह अहं-प्रत्यय के लिए भी समान रूप से सत्य है, क्योंकि अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ असंख्य सम्बन्ध और इसमें चरितार्थ्य अपार अर्थ-राशि इसके स्वरूप को निर्धारित और व्यक्त करते हैं। निश्चय ही अस्मिता वह "स्थान" है जो अनन्य रूप से मेरा अधिकार है और जो सर्व आत्मेतर का व्यावर्तक है, किन्तु इतरव्यावर्तकता इसमें संरचनात्मकतया अन्तर्निहित होने से यह अनिवार्यतः इतर के साथ अवस्थित होता है। इसके अतिरिक्त आधारभूत महत्त्व की बात यह है कि यह अस्मिता मेरी प्रेक्ष्य भी होती है और इसका यह स्वरूप इसे सर्वसामान्य भी बनाता है : मैं अपने को अपने विषय के रूप में अपने प्रेक्ष्यमान् प्रदेश में स्थापित और उसका पर्यवलोकन कर सकता हूँ। अपनी यह पर्यवलोक्यता मुझे इतर-व्यावर्तक ही नहीं इतर-व्यावृत्त भी बनाती है, मैं अन्यों का विषयी ही नहीं, अपने ही भीतर उनका विषय भी होता हूँ। यहां ज्याँ पॉल सार्त्र द्वारा लज्जा के अनुभव के विवेचन[8] का उल्लेख स्थाने होगा जो उसने इतर के अवगमन के निरूपण के प्रसंग में किया है। यद्यपि हम उसके निरूपण से पूर्णतः सहमत नहीं हैं किन्तु तब भी उस निरूपण की मार्मिकता का निषेध नहीं किया जा सकता। लज्जा का अनुभव हम अन्य व्यक्ति के सम्मुख ही करते हैं अन्य की अविद्यमानता में नहीं। किन्तु इस अनुभव में अन्य व्यक्ति ज्ञान-विषय के रूप में नहीं बल्कि विषयी के रूप में ही गृहीत होता है जिसके विषय के रूप में हम अपने को प्रस्तुत देख कर लज्जित होते हैं। किन्तु इस विषय का : विषयभूत अहं का : अधिष्ठान मैं ही होता हूँ। लज्जा अन्य विषयी के सम्मुख विषय रूप में मेरी अयोग्य अथवा अनुपयुक्त प्रस्तुति के बोध से होती है जिस बोध का विषयी मैं होता हूँ। यद्यपि अहं की यह अन्य-प्रेक्ष्यता विचारात्मक ही नहीं आवेगात्मक स्तर पर भी घटित होती है किन्तु विचारात्मक स्तर पर तो "मैं" वास्तव में एक सर्वनाम ही हो जाता है जिसके एक नाम के रूप में मैं स्थानित होता हूँ। 'मैं' की यह सार्वनामिकता, आत्म-प्रत्यय की सामान्य विषयता, व्यक्ति को स्वरूपतः सामाजिक, अथवा कहें संस्कृति-मानव की एक अभिव्यक्ति, बना देती है। व्यक्ति की इस सामान्यता के प्रतिपादन का अर्थ सामाजिक गठन की कठोरता का समर्थन नहीं है, बल्कि सामाजिक गठन की कठोरता इस सामान्यता का बाध है, जिस बाध का आधार एक सीमित विचार का दुराग्रह होता है, जबकि सामान्यता का अर्थ निरहंकारता, विवेक, और अहंकार का अतिक्रमण होता है। किन्तु इस पर कहा जा सकता है कि अहं की यह निर्विशिष्टता व्यक्ति का किसी विशेष समाज में नहीं बल्कि एक सार्वभौम समाज में लय संभव करती है, जबकि वास्तव समाज और वास्तव संस्कृति विशिष्ट ही होते हैं।

---

8. बींग एंड नथिंगनेस, पृ. 301-3

यहां यह ध्यातव्य है कि अहं की सामान्यता उसकी विशिष्टता का निरास नहीं करती : मैं जबकि अपने को एक अहं के रूप में देखे बिना इतर को इतर अहं के रूप में और अपने को उसके विषय के रूप में नहीं देख सकता, साथ ही मैं अहं के सामान्य में अनपचेय, अविघटनीय हुए बिना अपने को और इतर को इनकी व्यावर्तकता और पारस्परिकता में भी नहीं देख सकता। यही बात सांस्कृतिक और सामाजिक विशिष्टताओं के लिए भी कही जा सकती है। स्थूल रूप से. एक संस्कृति एक ऐसी जीवन-दृष्टि को कहा जा सकता है जो परमार्थ: सत्य और मूल्यविषयक परम अर्थ : विषयक प्रत्यय से परिभाषित होती है और समाज उन संस्थितियों अथवा संरचनाओं को जो इस जीवन-दृष्टि के क्रियान्वयन के उद्देश्य से परिकल्पित और निर्मित होती हैं। मानव-चित्त[9] और मानव-देह इसके माध्यम बनते हैं। व्यक्ति के पक्ष से उन अन्य व्यक्तियों को उसका समाज कहा जा सकता है जिनसे वह संप्रेषणात्मक रूप से सम्बन्धित होता है और जो उसे विषयियों के रूप में प्रस्तुत हो उसके अपने भीतर से अपने विषय के रूप में प्रस्तुत करते हैं, अथवा कहें, जिनके प्रति वह अपने को उत्तरदायी अनुभव करता और जिनके सम्मुख वह लज्जित हो सकता है। इस प्रकार विशेष विचारात्मक व्यवस्थाओं और विशेष तथा स्थायी भावनात्मक सम्बन्धों के आधार पर विशेष समाजों का निर्माण होता है। इस प्रकार एक संस्कृति अनिवार्यत: विशिष्ट होती है—तब भी यदि वह संपूर्ण संसार में एकमात्र संस्कृति हो, क्योंकि वह अनेक संभावित परमार्थ-दृष्टियों में से एक होती है। इसी प्रकार एक समाज भी अनिवार्यत: विशिष्ट समाज ही होता है, यदि वह एक विश्वव्यापी समाज भी हो, क्योंकि वह अनेक संभावित समाजों में से एक होता है। किन्तु साथ ही यह देखना भी आवश्यक है कि जबकि अस्तित्वतः संस्कृति और समाज अनिवार्यत: विशिष्ट ही होते हैं, चेतना प्रत्यङ्मुखता में इन विशिष्टों को वास्तव-संभाव्य विशिष्टों में से एक के रूप में ही देखती है। अस्तित्व की यह संभावना-परिवेष्टितता स्वयं अस्तित्व को अपनी ही धुरी पर आगन्तुक और अयथातथ : अन्यथाकरणीय: बना देती है। यहां पुन: प्रत्यक्षगत विषय का उदाहरण इस प्रसंग को समझने में उपयोगी होगा। जैसाकि हमने देखा, मेज़ ज्ञान-विषय के रूप में एक परिप्रेक्ष्यात्मक अस्तित्व है, जिसका अर्थ है कि यह विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रेक्ष्य दृश्यों के बीच तटस्थ है और ये सब दृश्य इससे सम्बद्ध हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह अपने ताटस्थ्य में दृश्य भी हो सकता है, और न इसका यही अर्थ है कि इसका कोई एक सर्वसामान्य दृश्य रूप हो सकता है। परिप्रेक्ष्यात्मकता अनिवार्य रूप से असंख्य और विविध-दृश्यता है और साथ ही किसी भी दृश्य में अन्य दृश्यों की अपेक्षा की विद्यमानता भी है। इस पर कहा जा सकता है कि इस उदाहरण के बजाय यदि हम मेज़त्व का उदाहरण लें तो यह युक्ति काम नहीं देगी क्योंकि मेज़त्व परिप्रेक्ष्यात्मक नहीं होता, वह एक सरल प्रत्यय है जो एक-साथ और समग्रत: गम्य होता है। किन्तु यह सही नहीं है। मेज़त्व यद्यपि परिप्रेक्ष्यात्मक नहीं होता क्योंकि परिप्रेक्ष्यात्मक केवल इन्द्रिय-विषय ही होते हैं किन्तु वह स्वरूपत: विशिष्टपरक और अनन्त संभावनात्मक, अनन्त रूपात्मक और अनन्त अर्थात्मक होता है: मेज़ संख्या में अनन्त;

---

9. यहां यह स्मरणीय है कि 'मानव-चित्त' से हमारा अभिप्राय "मानव-व्यक्ति का चित्त" से नहीं है बल्कि उस चित्त से है जो एक-साथ मानव-व्यक्ति और मानव-संस्कृति दोनों आयाम लेता है।

आकार-प्रकार की विविधता में असंख्य और सम्बन्धों तथा प्रयोजनों में अपरिमेय हो सकते हैं। सामान्य और विशेष के सम्बन्ध का एक और प्रकार हम किसी विचार और उसके अवगमन में देख सकते हैं : कोई भी विचार असंख्य दृष्टिकोणों का विषय, असंख्य सिद्धान्त-व्यवस्थाओं का घटक और गहराई में अपरिमेय होता है। अब ये सब उदाहरण सामान्य के अस्तित्व में अवतरण के हैं। यही बात वैयक्तिक और सांस्कृतिक आविर्भाव की है। प्रत्येक व्यक्ति सामान्य अहं-प्रत्यय का एक विशिष्ट आविर्भाव होता है, किन्तु मानव-चेतना के आत्मचेतन होने से इस विशिष्ट में अपने सामान्य-सार्वभौम तत्त्व का बोध भी संभव है जो बोध संप्रेषण की सार्वभौमता के द्वारा चरितार्थ किया जा सकता है। किन्तु पुनः, संप्रेषण की यह सार्वभौमता केवल सामान्य की सम्भावनात्मकता के बोध में प्रकाशन के रूप में ही संभव होती है, क्योंकि संप्रेषण की वास्तव सार्वभौमता केवल तभी घटित हो सकती है यदि सब देशों और सब कालों में सब व्यक्तियों में वास्तव संवाद घटित हो सके, जो एक असम्भव स्थिति है। **किन्तु जहां यह संवाद प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से घटित होता है वहां एक समाज का जन्म होता है।** विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं का अध्ययन इस समाज को व्यापक बनाने में सहायक होता है। यहां यह स्पष्टीकरण पुनः आवश्यक है कि समाज को "व्यक्तियों के बीच संप्रेषण" के रूप में परिभाषित करने का अर्थ व्यक्तियों की समाज से प्राथमिकता अथवा समाज की व्यक्तिमूलकता : व्यक्ति-समूहरूपता: का प्रतिपादन नहीं है, जिस प्रकार दृष्टि-विषय की परिप्रेक्ष्यात्मकता का अर्थ विषय को उसके दृश्यों का संकलन कहना अथवा उसको दृष्टिमूलक कहना नहीं है।

अब, संस्कृति क्या है ? इस प्रश्न पर विचार के लिए व्यक्ति के स्वरूप पर पुनर्विचार सहायक होगा। व्यक्ति के स्वरूप के दो आयाम देखे जा सकते हैं। उसे एक आयाम में इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है : **आत्मसम्बद्ध सब क्रियाओं का अधिष्ठान**। इस परिभाषा को संरचनात्मक और क्षैतिज कहा जा सकता है। किन्तु यह परिभाषा व्यक्ति के स्वरूप का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रकट करते होने पर भी उसके तत्त्व को अछूता ही छोड़ देती है। मनुष्य ही नहीं जीवमात्र, अथवा कहें सभी स्तरों की चेतना, भविष्योन्मुख होती है। क्रिया का यह स्वरूप है कि वह अप्रस्तुत-विषयक और आयोजनात्मक होती है। मानव-चेतना में यह आयाम ऊर्ध्वोन्मुख रूप लेता है। चेतना के इस आयाम को एषणात्मक कहा जा सकता है। यह एषणात्मक आयाम यों जीव-धर्म ही है किन्तु मनुष्य में यह आयाम मौलिक रूप से एक भिन्न रूप ले लेता है जिसका कारण अहं-भाव का अहं-प्रत्यय में रूपान्तरण है। यह रूपान्तरण अहं को एक प्रतीक, एक विपुल अर्थ-राशि का आश्रय बना देता है और व्यक्तित्व को एक दूसरा आयाम दे देता है जिसे आत्म-विषयक मूल्यों का, आत्मा की अप्रस्तुत विषयकता का, अर्थात् उसके सिद्धरूप से भिन्न उसकी साध्यरूपता का आयाम कहा जा सकता है। वास्तव में यह दूसरा आयाम प्रथम आयाम को भी आधार देता है, क्योंकि प्रथम आयाम में विभिन्न मनःस्थितियों, अथवा कहें चिद्वृत्तियों को संरचनात्मक केन्द्र तो मिल जाता है इस संरचना को कोई अधिष्ठातृत्व और सार्थकता नहीं मिलती। वास्तव में अधिष्ठातृत्व और सार्थकता परस्पर को पूर्वकल्पित करते हैं, क्योंकि अन्यथा तो इन्द्रियां और अन्तःकरण असंख्य विषयों के संपर्क में आते हैं किन्तु ग्रहण हम केवल उन्हीं विषयों का करते हैं जो हमारे लिए आकर्षक होते हैं।

इसी प्रकार प्रत्यक्षों का स्मृति में संग्रह और संगृहीत का स्मरण भी किसी प्रयोजन अथवा अपेक्षा से ही निर्धारित होते हैं। ये सब मूल्य यद्यपि वस्तु पर आरोपित होते हैं किन्तु वस्तुतः ये आत्मविषयक ही होते हैं : जो स्वरूप आत्म-प्रत्यय का होता है उसी के अनुसार हमारे विषय आत्म-सम्बद्ध होते हैं। यहां बरबस उपनिषद् के "आत्मनस्तु कामाय सर्वंप्रियं भवति" आदि मंत्र का ध्यान आता है। अन्न-वस्त्र, पुत्र-कलत्र, काव्य-शास्त्र, जो भी कुछ किसी को प्रिय होता है उस सबकी प्रियता का स्रोत आत्मा ही है : अर्थात् जिस रूप में आत्मा कल्पित होता है उसी प्रकार के विषय मूल्यवान् होते हैं। अब, मूल्यों की विषयवर्तिता आत्मा को विषयानुगामी और विषयाधीन, अथवा कहें अपने अधिष्ठातृत्व में क्षीण, बना देती है और इनकी आत्मपरकता उसे स्वतंत्र और विषयाधिष्ठाता बना देती है।

अब, जो स्थान व्यक्तित्व में आत्मा का है वही स्थान समाज में संस्कृति का है, इस अन्तर के साथ कि इसकी संरचना किसी अहं-प्रत्यय में अधिष्ठित नहीं होकर[10] परमार्थ विषयक, अथवा कहें उस सत्-विषयक दृष्टि में अधिष्ठित होती है जो सत् मनुष्य का साध्य होता है। इस दृष्टि को संस्कृति का आत्मा और अधिष्ठाता भी कहा जा सकता है, किन्तु इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के साथ कि यह अधिष्ठातृत्व कर्तृत्वाभिमान और ज्ञातृत्वाभिमान से, कर्म और ज्ञान-विषयक अस्मिता से, रहित होता है। किन्तु सस्कृति यह दृष्टिमात्र नहीं होती, उन सब क्रियाओं की विषयिता और विषयता भी संस्कृति होती है जिनमें समाज-चेतना या समाज-चित्त अपने को क्रियान्वित और व्यक्त करता है। संस्कृति-दृष्टि इस संपूर्ण व्यापार को एक मूल्यात्मक व्यवस्था में प्रतिष्ठित करती है। इस प्रकार सब समाजों में दर्शन, विज्ञान, कलाएं और अन्य रचना-विधाएं देखी जा सकती हैं जो समाज-विशेष के चरित्र के अनुसार प्रमुखता और गौणता के सोपान में व्यवस्थित होती हैं।

यहां यह विचारणीय है कि किसी समाज की परमार्थ-दृष्टि का और उसके संरचनात्मक वैशिष्ट्य का मूल या स्रोत क्या होता है ? वास्तव में इनके स्रोत और आरंभ की खोज चेतना के स्वरूप की भ्रांत अवधारणा की द्योतक है। उदाहरणतः मेरा व्यक्तित्व जैसा है उसके वैसा होने का क्या कारण है ? इसका उत्तर हमने दिया कि इसका कारण उस आत्म-प्रत्यय का

---

10. श्री अरविन्द व्यक्तियों के समान ही समाजों और राष्ट्रों में भी देह, प्राण, जीव और आत्मा एवं अहं-प्रत्यय का होना मानते हैं। (द्रष्टव्य उनकी पुस्तक ' दि ह्यूमन साइकिल,'' अ.4) समाज के देह और आत्मा के प्रश्न पर हमने अपनी पुस्तक ' संस्कृतिः मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या'' के अ.2 में विस्तार से विचार किया है। वहां हमने समाजों या संस्कृतियों में अहंभाव या अहं-प्रत्यय की विद्यमानता भी स्वीकार की है। अवश्य संकट की घड़ियों में समाजों और राष्ट्रों में भी एक अहं-बोध परिलक्षित होता है और क्रान्ति आदि के अवसरों पर इस बोध में एक आध्यात्मिक अर्थ और प्रयोजन का बोध भी परिलक्षित होता है, श्री अरविन्द ने ऐसे ही अवसरों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है। किन्तु इसमें दो अन्तर हैं। एक तो यह कि इसमें व्यक्ति बहुवचनात्मक अहं-प्रत्यय का प्रयोग करते हैं : हम भारतवासी, हम हिन्दु या मुसलमान : और दूसरे, यह अस्मिता भी आवेगात्मक होती है जैसी हाथियों या हरिणों के झुंड में, आत्मचेतना-मूलक नहीं जो अहं-प्रत्यय को उपलक्षित करती है। अवश्य संस्कृति भी आत्मचेतनात्मक ही होती है, किन्तु यह अहं-प्रत्यय से उपलक्षित नहीं होती।

स्वरूप है जो मेरे व्यक्तित्व को अधिष्ठित करता है। अब, यदि यह प्रश्न किया जाय कि इस आत्म-प्रत्यय के स्वरूप के वैसा होने का क्या हेतु है जैसा यह है ? तो इसका कोई उत्तर संभव नहीं है। इसका एक उत्तर कर्म-फलवाद के भारतीय सिद्धान्त में दिया गया है कि इसका स्वरूप पिछले कर्मों से निर्धारित होता है। किन्तु कर्म अपूर्वतः निर्धारित आत्म-प्रत्यय को पूर्व-कल्पित करता है। इस प्रकार इस कर्म-परंपरा का स्वरूप स्वतंत्र कर्त्ता से निर्धारित होता है। किन्तु कर्म-फलवादियों ने ऐसा नहीं कहा है। उनका कहना है कि यह कर्म-परंपरा अनादि है। अनादिता को काल-वाचक अर्थ में लेने पर इसका अर्थ हो जाता है कि हम उस कारण-परंपरा में एक कड़ी मात्र हैं जिसका निर्धारण किसी कर्त्ता के द्वारा नहीं होता है और इस प्रकार हम निःस्वरूप हैं और आत्म-प्रत्यय बाह्यतः प्रदत्त होता है। प्रकारान्तर से यही प्रति-पादन वैज्ञानिकतावादियों का भी है। किन्तु यह विचार आत्मचेतना के स्वरूप की नासमझी पर आधारित है। निश्चय ही हम कारण-शृंखला की कड़ी भी हैं, किन्तु आत्मचेतन रूप में सदैव इससे स्वतंत्र और इसके निर्धारक भी हैं। यह बात संस्कृति के सम्बन्ध में भी उतनी ही सत्य है : यह परंपरात्मक और इस प्रकार अपने इतिहास से निर्धारित भी होती है किन्तु यह मूलतः सृजनात्मक चेतना के आत्म-चरितार्थन की प्रक्रिया है। उदाहरणतः कला-चेतना का कला-कर्म में प्रवर्तन और उस कर्म का कला-कृति में प्रतिफलन होता है। इस सम्पूर्ण व्यापार का मूल्य चेतना द्वारा अपने अन्तर्निहित अर्थों का प्रतिदर्शन और निरूपण और इस प्रकार अपने विपुलीकरण में होता है। अवश्य परंपरा कारण-कार्यात्मक ही होती है, किन्तु यह चेतना द्वारा अपने प्राकृतिक माध्यम की प्रतिकूलता को उसके :प्रकृति के: अपने नियमों के आश्रय से अनुकूल करने के प्रयत्न की परिणाम होती है। उदाहरणतः काव्य-परंपरा का अर्थ है काव्य-भाषा और काव्यालंकार आदि अभिव्यक्ति-साधनों के परिष्कार का ऊर्ध्वोन्मुख क्रम, जो प्रतिभावान् कवि को अपने साक्षात्कृत अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए अधिकाधिक पारदर्शी माध्यम उपलब्ध करा सके। पारदर्शी माध्यम का अर्थ है ऐसी प्रतीक-व्यवस्था जो साक्षात्कृत अथवा संप्रेष्य अर्थों की अलौकिकता को अपने लौकिक आवरण में भी अक्षत रूप में प्रदर्शित कर दे। जैसा कि हम जानते हैं, परंपरा प्रायः ही अपने इस उद्देश्य से विपरीतगामी हो जाती है। उस स्थिति में वह सांस्कृतिक परंपरा नहीं रहकर संस्कृति पर जड़ बोझ हो जाती है। इस प्रसंग में स्वयं समाज भी संस्कृति के लिए उपकरणभूत होता है। यह चेतना के बहु आयामी आत्मसर्जन के लिए, परिभू-स्वयंभू-कविर्मनीषी की विपुल अर्थ-संपदा का लोक में वहन करने के लिए, अपेक्षित सहस्रबाहु-सहस्रपाद उपलब्ध कराता है।

पी. 51, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड, जयपुर-15

उन्मीलन : वर्ष ५, अंक २
जुलाई १९८८

3

विज्ञान, पुराण और रचना-साहित्य

रमेशचंद्र शाह

विज्ञान और पुराण दोनों ने समय-समय पर रचना-साहित्य को प्रभावित किया है। पश्चिमी सभ्यता के ही इतिहास को देखें तो आज से कोई इक्कीस सदी पहले — वर्जिल से भी पहले — ल्युक्रेशियस नामक कवि हुआ था जिसने अपने प्रसिद्ध काव्य **ऑन दि नेचर ऑव थिंग्स** में पौराणिक मान्यताओं को ध्वस्त करते हुए जीवन और जगत् को देखने की भौतिकवादी वैज्ञानिक तर्क-पद्धति की प्रतिष्ठा की थी। और ऐसा भी नहीं कि एपिक्युरस और डेमोक्रिटस के सिद्धान्तों से प्रेरित यह कृति अब स्वयं पौराणिक हो गई हो : इसी सदी में, सन् 1918 में, इसी नाम की एक पुस्तक भौतिकवाद की पुरज़ोर वकालत करते हुए लिखी गई है जिसमें ल्युक्रेशियस के विचारों तथा आधुनिक विज्ञान की नवीनतम खोजों के बीच पूरा-पूरा तालमेल दिखाने की कोशिश की गई है। ल्युक्रेशियस धर्म का घोर विरोधी था, विशेषकर रोम में प्रचलित धार्मिक विश्वासों का, जो उसे 'ग्रीक माइथॉलॉजी' से भी अधिक ऊलजलूल और डरावने लगते थे। मज़े की बात यह है कि उसके इस विलक्षण काव्य का प्रारंभ 'वीनस' की स्मृति से होता है। दरअसल वह प्रकृति का—निर्वैयक्तिक प्रकृति का—प्रेमी था और वीनस के भेष में वह उस प्रकृति का ही आवाहन कर रह था जो उसकी दृष्टि में अन्धी और निरुद्देश्य होते हुए भी अनन्त सौन्दर्य और ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। चूँकी पश्चिमी भाव-बोध के इतिहास में — कम से कम उसकी एक प्रमुख धारा में — ल्युक्रेशियस का महत्त्व निर्विवाद है और चूँकि वह विज्ञान और पुराण के संधि-स्थल का कवि है, अतएव प्रस्तुत विषय में प्रवेश करने की ग़रज़ से ही उसके 'वैज्ञानिक' तर्क का एक नमूना यहाँ उद्धृत कर देना अनुपयुक्त नहीं होगा। तो देखें सृष्टि की सनातनता जैसे विचार का खण्डन करता हुआ ल्युक्रेशियस क्या कहता है —

"एक और तर्क देता हूँ। यदि धरती और आकाश काल के एक निश्चित बिन्दु से आरंभ नहीं हुए तो ट्रॉय और थीब्स के युद्धों से पहले की घटनाओं का काव्य-वृत्तान्त क्यों नहीं मिलता? क्यों किसी कवि ने उन्हें नहीं गाया? क्यों इतनी सारी वीर-कथाएँ बारम्बार विस्तृत होती रहीं और कवियों की वाणी में अपना कोई स्मारक तक नहीं बना सकीं? इसका उत्तर मेरी दृष्टि में यही है कि यह दुनिया अभी हाल में ही बनी है : इसकी सृष्टि बिल्कुल हाल की घटना है, न कि अतिप्राचीन काल की। यही कारण है कि अभी तक कुछ शिल्प कच्ची हालत में हैं : विकास की प्रक्रिया उनमें बराबर जारी है। जहाज़ों को ही लीजिए, कितने ही सुधार उसमें अभी-अभी लाए गये। संगीत में भी राग-रागिनियाँ बने अभी बहुत दिन नहीं बीते। प्रकृति के बारे में भी सत्य का पता अभी-अभी चला, और मैं खुद अपनी भाषा में इस सत्य को वाणी देने वाला पहला ही व्यक्ति हूँ।

"या फिर आप यह मान सकते हैं कि ये सारी चीज़ें तो पहले भी अस्तित्व में थीं मगर मनुष्य-जाति ही किसी प्राकृतिक प्रकोप का शिकार हो गई। तब तो मेरी इस मान्यता को और भी पुष्ट आधार मिल जाता है कि धरती और आकाश का अन्त बस होने ही जा रहा है। अगर पहले भी दुनिया को ऐसे झटके लगते रहे हैं तो अब सिर्फ एक और अधिक शक्तिशाली झटके की ज़रूरत है। हमारी नश्वरता का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है कि हम भी उन्हीं विपत्तियों के सामने उसी तरह बाध्य हैं जिस तरह वे हमसे अगले वक्तों के लोग थे जिन्हें प्रकृति ने पहले भी जीवन से वापस छीन लिया था।"

"समस्त जीवन" —ल्युक्रेशियस आगे कहता है "अँधेरे में चलने वाला एक अविराम संघर्ष है। जैसे बच्चे अँधेरे में भय से काँप उठते हैं उसी तरह हम सयाने भी दिन-दहाड़े ऐसे निराधार और कल्पित भयों से त्रस्त होते रहते हैं। मन का यह डर और अँधेरा सूरज की किरणों से नहीं छँट सकता, वह तो केवल प्रकृति के बाहरी रूप और भीतरी प्रक्रियाओं की **सही समझ** से ही दूर हो सकता है।"

अब यूँ तो पुराण, यानी मिथक भी डर को भगाने के लिए ही — प्राकृतिक शक्तियों को अनुकूल सिद्ध करने की प्रक्रिया में ही—मनुष्य द्वारा गढ़े गए प्रतीत होते हैं, और उन में न केवल इस अँधेरे रहस्य का बोध अभिव्यक्त होता है बल्कि उस पर नियन्त्रण पाने का, सर्वशक्तिमत्ता हासिल करने का संकल्प भी प्रकट होता है, किंतु ज़ाहिर है कि मात्र इस 'मिथिकल' चिन्तन से आदमी का काम चलने वाला नहीं था। उसे अलग से एक विशेष प्रकार की तर्कबुद्धि का विकास करना पड़ा और इस क्रम में अपनी पौराणिक मानसिकता के विरुद्ध भी जाना पड़ा : विज्ञान का इतिहास इस 'सही समझ' (?) की ज़रूरत की पूर्ति का ही इतिहास है और इस लम्बे इतिहास के दौरान हम कई प्रसिद्ध कवियों को समकालीन विज्ञान और वैज्ञानिकों का अभिनंदन करते हुए भी पाते हैं। मसलन, मिल्टन अपने महाकाव्य में एक जगह गैलिलियो और उसकी दूरबीन का चकित-उल्लसित उल्लेख करने को प्रेरित होता है; अलेक्ज़ेण्डर पोप न्यूटन की प्रतिभा से इस कदर चमत्कृत हो उठता है कि वह उसे अपने एक दोहे में बाइबिल के परमेश्वर की बगल में बिठा देता है : "नेचर ऐण्ड नेचर्स लॉज़ ले हिड इन नाइट /केम न्यूटन, सैड लैट देयर बी लाइट/ऐण्ड देयर वॉज़ लाइट।"

रोमैण्टिक कवियों को भी पुराण और विज्ञान दोनों से प्रेरणा मिलती रही, हालांकि यहाँ तक आते-आते दृष्टि कुछ बदलने लगती है। शैले की कल्पना मिथक और विज्ञान दोनों के पंखों पर सवार हो कर उड़ान भरती है : उसका रोमैण्टिक आदर्शवाद पुराण और विज्ञान को जोड़ता हुआ मानव-भविष्य के सुनहले स्वप्न देखता है। उसके विपरीत छोर पर कीट्स है जिसके लिए विज्ञान बिल्कुल अप्रासंगिक है। सत्य की खोज उसके लिए जिस 'सुन्दर' की खोज का पर्याय है उसके लिए यूनानी पुराकथाएँ काफ़ी हैं। मगर वर्ड्स्वर्थ, जो अपने को कलाकार नहीं शिक्षक की ही भूमिका में देखता था, वह क्यों विज्ञान और वैज्ञानिकों के प्रति विरोध-भाव प्रकट करता है ? क्यों उसे वैज्ञानिक दृष्टि पर, उसकी नीयत पर भरोसा नहीं है ? "(दे पीप ऐण्ड बॉटेनाइज़ अपॉन देयर मदर्स ग्रेव") क्या प्रकृति कवियों की ही जिज्ञासा का क्षेत्र है ? वैज्ञानिक की जिज्ञासा में कुछ न कुछ अनिष्ट की घुसपैठ अवश्यंभावी है? ग्योएटे जैसा कवि भी तो प्रकृति का आराधक है और वह प्रकृति के साथ-साथ विज्ञान में भी सक्रिय रुचि लेता है ! मगर फिर ग्योएटे न्यूटन से झगड़ा क्यों मोल लेता है? उसे न्यूटन की ऑप्टिक्स क्यों पसन्द नहीं है ? प्रकाश के नियमों की उसकी अपनी व्याख्या है जो कि न्यूटन के सिद्धान्तों से मेल नहीं खाती। तो क्या विज्ञान भी एक नहीं होता ? वस्तुपरकता और सार्वभौमिकता के उसके दावे में ही कहीं दरार है ? यह आज का सबसे ज़बरदस्त सवाल है।

हम आधुनिक दौर में प्रवेश करते हैं तो वालेरी जैसे समर्थ कवि को पन्द्रह-बीस वर्षों तक कविता लिखना स्थगित करके गणित के अध्ययन में डूब जाते देखते हैं। यह प्रतीकवादी कवि मानो यथार्थ पर अपनी पकड़ मज़बूत करने के लिए ही विज्ञान और विज्ञान के भी सबसे मूलभूत और सबसे अमूर्त्त अनुशासन का भीतरी भेद पाना ज़रूरी समझता है। मगर उसका उदाहरण थोड़ा अलग किस्म का है। डब्लु. बी. येट्स हक्सले और टिण्डल जैसे वैज्ञानिकों को जी भर के कोसता है मगर मुक्त मन से कविता लिख पाना उसके लिए भी तब तक संभव नहीं हो पाता जब तक वह अपने जादुई और रहस्यात्मक अध्ययनों की एक अर्द्ध मिथिकीय, अर्द्ध-वैज्ञानिक 'व्यवस्था' खड़ी नहीं कर लेता: यानि एक तरह के प्रतिवैज्ञानिक विज्ञान के सहारे का आश्वासन नहीं पा लेता। टी. एस. एलियट भी यों बड़े चिड़चिड़े स्वर में घोषित करता है कि "वैज्ञानिकों की कल्पना-शक्ति अक्सर बहुत ही घटिया और दोयम दरजे की होती है," लेकिन अपने काव्य-प्रक्रिया के विवेचन में वह विज्ञान से रूपक उधार लेने में संकोच नहीं करता। इतना ही नहीं, यहाँ तक आते आते पुराण खुद ही एक विज्ञान की शाखा में बदल गया है और मनोविश्लेषण विज्ञान तथा नृतत्त्व विज्ञान नामक जो दो नए विज्ञान भी मैदान में आ गए हैं उनसे स्वयं एलियट की कविता को भी खासी मदद पहुँचती है। जिस वैज्ञानिक प्रगति की बदौलत आधुनिक विश्व में कविता अपने को परिधि पर खदेड़ी हुई महसूस कर रही थी। उसी के इस नए उपक्रम की बदौलत एलियट को भरोसा बँधता है कि शायद अब भी कला के लिए गुंजाइश निकल आए। अपने समकालीन उपन्यासकार जेम्स ज्वाइस के कृतित्व पर टिप्पणी करते हुए वह 1921 में लिखता है :

"मिथक का ऐसा उपयोग करते हुए—समकालीनता और पुराकाल के बीच एक निरन्तर समानान्तरता स्थापित करने के इस उपक्रम द्वारा—ज्वाइस ने एक ऐसी रचना-विधि खोजी है जिसका अब आगे के लेखकों के लिए अनुसरण करना अनिवार्य हो जाएगा। . . . यह रचना-विधि और कुछ नहीं एक तरीका है — व्यर्थता और अराजकता के उस विशाल परिदृश्य को नियंत्रित करके उसे एक आकार और अर्थ देने का—जो हमारा समकालीन इतिहास है। इस विधि को कवि येट्स पहले ही अपना चुके थे — मेरी समझ से हमारे समकालीनों में सबसे पहले इस विधि को अपनाने की ज़रूरत उन्हीं ने समझी थी। और आज की परिस्थिति इसी विधि के पक्ष में जा रही है, शगुन अच्छे हैं। मनोविज्ञान, (जैसा भी वह विकसित हो सका है, और जैसी भी उसके प्रति हमारी प्रतिक्रिया हो — गंभीर अथवा परिहासपूर्ण) वंश-विज्ञान और नृतत्वविज्ञान (खासकर फ्रेज़र के 'दि गोल्डन बाउ' में) की खोजों के एकत्र हो जाने का संयोग भी एक ऐसा सौभाग्यपूर्ण संयोग है जिसकी बदौलत जो अभी कुछ ही साल पहले तक असंभव था वह संभव बन गया है : परम्परागत "नैरेटिव मैथड" की जगह अब हम इस "मिथिकल मैथड" का प्रयोग कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि आधुनिक जगत् के लिए कला फिर से संभव बनाने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया है।"

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि एलियट के लिए मिथक अपने मौलिक स्वरूप में यथार्थ पर नियंत्रण पाने का, उसे एक संगति और व्यवस्था देने का उपकरण है — एक ऐसी परिस्थिति में जहाँ मनुष्य अस्थिरता और अराजकता से घिर गया हो। आधुनिक मनुष्य के भय के कारण निश्चय ही उन कारणों से बहुत भिन्न हैं जिनसे सुदूर अतीत के उसके पुरखे त्रस्त हुए होंगे। किन्तु एलियट ही क्यों, औरों को भी यही लगता है कि भय के कारण भले ही भिन्न हों, लक्षण तो समान ही होंगे और इस भय पर काबू पाने के लिए वह जिस पुराण-विधि को एक अस्त्र की तरह उपयोग करने की सलाह देता है उसकी जड़ें अति प्राचीन अनुष्ठानों में हैं।

स्वयं एलियट के काव्य को एक आनुष्ठानिक भाव-बोध की उपज मानने वाले स्टीफेन स्पेण्डर का कहना है कि एलियट की कल्पना आदिम युगों की अराजकता से संत्रस्त थी और वह होमर के संसार की बजाय सभ्यता के कवि वर्जिल के संसार के साथ अधिक सहज और सुरक्षित अनुभव करती थी। एलियट के शिष्य और परवर्ती कवि डब्लू. एच. ऑडेन के लिए भी काव्य एक 'शाब्दिक अनुष्ठान' ही है। हमें इसके साथ ही श्रवणात्मक कल्पना की एलियटीय अवधारणा का भी बरबस स्मरण हो आता है जिसके अनुसार कवि शब्दों या वर्णों के विशेष संयोजन से उत्पन्न होने वाली उस शक्ति का आवाहन करता है जो "हमारी मानसिकता के आदिम और सभ्य दोनों ही स्तरों को एकसाथ झंकृत कर सके।"

क्या कवि का यह शब्दिक अनुष्ठान उसके भय के कारणों का उसी तरह शमन करते हुए उसे सृष्टि के साथ किसी टिकाऊ सम्बन्ध की प्रतीति करा सकने में समक्ष है? आदिम मनुष्य के लिए पुराण जिस तरह सत्य था क्या उस तरह आधुनिक रचनाकार भी अपने मिथक

की सच्चाई में विश्वास कर पाता है ? क्या आधुनिक रचनाकार के लिए वर्तमान वैज्ञानिक युग भय के कारणों की दृष्टि से न सही लक्षणों की दृष्टि से ही सही आदिम युग की ही पुनरावृत्ति है? जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' का स्मरण यहीं स्वाभाविक है । उसके बाद में भी विजयदेवनारायण साही की एक कविता यहाँ पर मुझे याद आ रही है जिसका शीर्षक है — 'वरदान देने वाले देवताओं की ओर से' । पूरी कविता तो उद्धृत नहीं की जा सकती– कुछेक पंक्तियाँ ही यहाँ प्रस्तुत हैं :

देवताओं में अपार धैर्य है
हर बार तुम्हारी प्रार्थनाएँ सुनी गयी हैं
इस बार फिर हम तुम्हारे पुकारने पर
उपस्थित हो गए हैं........
....

क्या तुम नहीं जानते
कि देवता जब भी वरदान देते हैं
तो उनमें एक नहीं, कई अर्थ होते हैं?
तुम्हारे भय के कारणों का शमन कर दिया गया है
लेकिन तुम्हें निर्भय नहीं किया गया
....

भय भय भय
मैं पूछता हूँ
हर प्रार्थना के मंज़ूर हो जाने के बाद
हर बार एक नया भय
तुम्हारी आत्मा के किस हिस्से से उपजता है ?
....

और कविता का समापन करते हुए कवि [अर्थात् कविता के 'देवता'] कहते हैं :—

तुम्हें कोई निर्भय नहीं कर सकता
तुम्हें कोई निर्भय नहीं कर सकता
सिर्फ तुम्हारे वर्तमान भय का शमन
किया जा सकता है
लेकिन सोचो
तुम्हें कोई दूसरा निर्भय नहीं कर सकता

आज के समय में मिथक के बारे में फिर से जगी जिज्ञासा निश्चय ही यह तो जताती ही है कि यह मानव-मन में अंतर्निहित व्यवस्था और संगति की आकांक्षा ही है– अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रिया से परे के किसी निर्वैयक्तिक और व्यापक मानक में विश्वास करने की चाह, जो उसे परम्परागत प्रतीकों और पुराकथाओं की ओर मुड़ने को प्रेरित कर रही है। ये पुराकथाएँ उसके भीतर न सही, आध्यात्मिक स्तर पर, भावनात्मक स्तर पर तो कम में कम – शाश्वत पुनरावर्तन और स्थायित्व का बोध जगाती ही होंगी। पर मामला शायद इतना सरल नहीं है। एक पुराण – विशेषज्ञ ने तो बीसवीं सदी के मनुष्य की त्रासदी इसी में मानी है कि "यह मनुष्य स्वयं मानक बुद्धि के अधार्मिकीकरण के एक लम्बे सिलसिले का परिणाम है और जिन पुराणकथाओं के बग़ैर वह जी नहीं सकता उनके धार्मिक आधार की असलीयत से ही वह वंचित और बहिष्कृत हो चुका है।" यों भी हम पाते हैं कि स्वयं आधुनिक काल के कवि भी अपने द्वारा प्रयुक्त मिथकों की सच्चाई के बारे में आश्वस्त नहीं हैं। वह उनके लिए झूठ और सच दोनों है।

किन्तु यह समस्या सिर्फ बीसवीं सदी की विशेषता नहीं है। हम देख ही चुके हैं कि किस तरह पुराण की सत्यता को प्राचीन यूनान में ही 'एपिक्यूरियनों' और 'सोफिस्टों' ने चुनौती दे डाली थी। ल्युक्रेशियस के आदर्श गुरु एपिक्रुरस ने पुराकथाओं को छलना और भ्रान्ति मानते हुए उन पर तगड़े प्रहार किये थे। हालांकि इतना तो साफ़ ही है कि अपने काव्य का आरंभ वीनस की स्तुति से करने वाला ल्युक्रेशियस इस अविश्वास के बावजूद प्रतीकाभिव्यक्ति के साधन के रूप में मिथक का उपयोग करने की छूट स्वयं को देने में कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं करता।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **सिविलिज़ेशन एण्ड इट्स डिस्कण्टेण्ट्स** में फ्रायड ने लिखा है कि "....पुराकथाओं के देवता आदिम मनुष्य के मन में छिपी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता की आकांक्षाओं के ही आत्म-प्रक्षेपण हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की बदौलत अब आदमी को इन पौराणिक कल्पनाओं की ज़रूरत नहीं रह गई क्योंकि उसके पास अब ऐसे उपकरण वास्तव में हैं कि वह स्वयं लगभग देवता बन गया है। मगर ये उपकरण भले ही उसी ने विकसित किये हों वे उसकी देह पर तो नहीं उगे हैं। अधिक से अधिक उन्हें सहायक अंग ही कहा जा सकता है।" .... तो इस पर से फ्रायड इसी निराशाजनक परिणाम पर पहुँचता है कि "यह देवता की तरह सर्वशक्तिमान् बना आदमी वास्तविक संतोष और कृतार्थता का अनुभव नहीं कर सकता।" क्यों? इसलिए कि "उसे एक ओर तो अपने इस देवत्व के उपकरणों की उपयुक्तता के बारे में सन्देह बना रहता है और दूसरी ओर वह आज भी अपने भीतर की उन शक्तियों के आगे उतना ही निस्सहाय है जितना उसके पुरखे रहे होंगे।" इन भीतर के देवताओं' से फ्रायड का आशय स्पष्टतः उन आदिम प्रवृत्तियों से है जिन्हें वह पौराणिक सत्ताएँ ("मिथिकल एन्टिटीज़") कहता है। ये आदिम प्रवृत्तियाँ उसके द्वारा विकसित चामत्कारिक उपकरणों से भी बलवत्तर सिद्ध हुई हैं और निरन्तर उन्हें भी हथियाने के चक्कर में रहती हैं।

पुराण के युग से विज्ञान के युग तक पहुँचे आधुनिक मनुष्य की विडम्बना का यह फ्रायडीय चित्र ख़ासा डरावना है। जो कल का पुराण था वह आज का विज्ञान है: मिथक ही

जैसे यथार्थ बन गया है। किन्तु जैसे वह प्रक्षेपण था यह भी प्रक्षेपण सरीखा ही है। यह शक्ति, यह देवत्व आदमी पर उगा नहीं है, उससे कहीं अलग और बाहर है। फिर वह उसे निर्भय कैसे कर सकता है? वह उसके भय के कारणों का शमन तो कर देता है पर उसे निर्भय नहीं करता, नहीं कर सकता। क्यों? तब फिर असंतोष तो स्वाभाविक ही होगा। किन्तु इस असंतोष की फ्रायडीय धारणा अथवा मूल्य क्या है? क्या वह सचमुच निर्भय कर सकने वाला संतोष है? .... क्या वह 'आत्मन्येवात्मना तुष्ट:' वाली स्थितप्रज्ञता है? या कि वह 'प्लैज़र प्रिंसिपुल' और 'रिएलिटी प्रिन्सिपुल' के बीच का एक काम चलाऊ समझौता है?

ल्युक्रेशियस की कविता में 'वीनस' जीवन की देवी है और 'मार्स' विग्रह का। इब्रानी-मसीही धर्मों के ईश्वर और शैतान की तरह का यह युग्म फ्रायड के यहां 'ईरोस' और 'थेनेटोस' के द्वन्द्व के रूप में उभरता है। 'ईरोस' ने मनुष्य के सामूहिक जीवन को, उसकी सभ्यता के मूल्यों को संभव बनाया किन्तु आक्रामक हिंसा और आत्म-जिघांसा का प्रतीक 'थैनेटोस' भी 'ईरोस' के अमर प्रतिद्वन्द्वी के रूप में शीघ्र ही उभर आया। फ्रायड का सवाल यही है कि क्या 'ईरोस' कभी 'थेनेटोस' पर काबू पा सकेगा? क्या मानव-संस्कृति इस चुनौती से निपटने में सक्षम होगी?

मिथक की भाषा का इस्तेमाल करते हुए फ्रायड आइन्स्टाइन की ही तरह एक प्रतीकात्मक संरचना खड़ी करता है: एक व्यापक मनोवैज्ञानिक समीकरण, जो सनातन सत्य का दावा किये बिना इस क्षेत्र में तर्कसम्मत ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि की संभावनाओं को प्रशस्त करता है। उसका योगदान यही है कि उसने परम्परागत मिथकों को वैज्ञानिक प्रतीकों की तरह इस्तेमाल करने की विधि खोजी और इस तरह अनुभव के तर्कातीत पक्षों के बारे में एक ऐसी भाषा में बात करना संभव बनाया जो वैज्ञानिक और वस्तुपरक होने का आश्वासन देती प्रतीत होती है।

समकालीन साहित्य पर फ्रायड के गहरे और बहुमुखी प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता। किन्तु फ्रायड के शिष्य युंग ने उसमें कुछ ऐसा जोड़ा है जो महज़ एक जोड़ नहीं, एक स्वतंत्र प्रस्थान है और जिसने साहित्य-रचना के क्षेत्र में भी कई ऐसे रचनाकारों को प्रेरणा दी है जो फ्रायड की खोजों से प्रभावित होकर भी उससे असन्तुष्ट थे। युंग आदिम मनुष्य की आनुष्ठानिक क्रियाओं को आध्यात्मिक जीवन की ओर उठा आदमी का पहला कदम मानता है और उसकी दृष्टि में यह एक ऐसी प्रगति है जो निरन्तर चलती रही है। यह भी मनुष्य का इतिहास है और "इतिहास के चक्र को पीछे नही लौटाया जाना चाहिये।" युंग खुद ही एक जगह कहता है कि "फ्रायड और मेरे बीच बुनियादी मतभेद हैं और वह हमारी आधारभूत प्रतिज्ञाओं को ही लेकर है।" आधारभूत प्रतिज्ञाओं का यह अन्तर संभवत: इसी में निहित है कि फ्रायड ल्युक्रेशियस की ही तरह प्रकृति से ऊपर किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करता, जबकि युंग एक अतिप्राकृतिक सत्ता या शक्ति की अवधारणा को अनिवार्य मानता है। युंग आधुनिक मनुष्य की समस्या को फ्रायडीय शब्दावली से भिन्न रूप में अभिव्यक्त करता है। उसके लिए आधुनिक युग की समस्या 'स्पिरिट', यानी आत्मा के जीवन को फिर से खोजने की है। इस 'स्पिरिट' को उसने परिभाषित नहीं किया है। पर इस शब्द का उपयोग उसके यहाँ किसी अतिप्राकृतिक शक्ति में धर्मिक आस्था के लिए ही होता है। युंग की मान्यता यह है कि मनुष्यमात्र में एक

द्वन्द्व अन्तर्निहित है — उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियों और इस 'स्पिरिट' के बीच। दोनों अत्यन्त शक्तिशाली हैं और दोनों के बारे में हम कुछ नहीं जानते। धर्म का धनात्मक मूल्य इसी में है कि वह हमारे लिए हमारे अन्तर्जीवन की इन दो विरोधी शक्तियों के बीच सम्यक् संवाद स्थापित करने के साधन जुटाता है। सारे कर्मकाण्ड, अनुष्ठान, यज्ञ इत्यादि इन शक्तियों के साथ सही सम्बन्ध बिठाने की ही प्रविधियाँ हैं। युंग सामूहिक अवचेतन की अवधारणा प्रस्तुत करता है — 'मिथक' जिसका एक आवश्यक अंग है। इन मिथकीय रूपों में कुछ सार्वभौम समानताएं हैं और इन्हें वह 'आर्केटाइप्स' की संज्ञा देता है। यह 'आर्केटाइप' हम सभी में मौजूद है और हमारे अंतर्जीवन का अंग है। स्पष्ट ही, मिथिकीय आर्केटाइप को हमारी अंतरात्मा का अंगभूत [साइकिक ऑर्गन] मानने की यह बात फ्रायड के विरुद्ध जाती है। फ्रायड से युंग की दूसरी भिन्नता इन 'आर्केटाइप्स' को व्यक्ति और समाज के मानसोपचार के साधनों के रूप में प्रस्तावित करने के उसके आग्रह में प्रकट होती है, और तीसरी भिन्नता उसकी इस मान्यता में कि ईश्वर का भाव मनुष्यमात्र के भीतर एक चैतसिक सत्त्व ['साइकिक एक्ज़िस्टेण्ट'] के रूप में विद्यमान है।

क्या यह पुराण के वैज्ञानिक विवेचन की प्रतिज्ञा से छिटक जाना है? क्या ऐसी कोई प्रतिज्ञा पुराण-तत्त्व में अन्तर्निहित है,? हमने ऊपर ज्वाइस की 'मिथिकिल मैथड' पर एलियट की सराहनात्मक टिप्पणी उद्धृत की थी जिसमें एलियट ने येट्स को इस मैथड का प्रथम प्रयोक्ता होने का श्रेय दिया है। ऐसा तो नहीं लगता कि येट्स युंग से प्रभावित है किन्तु उसके कवि-कर्म और काव्य-चिन्तन में बहुत कुछ ऐसा है जो युंग के समीप पड़ता है। उसकी 'ग्रेट मेमोरी' और 'एनिमा मुण्डी' युंग के "सामूहिक अवचेतन" के करीब ही है, और उसके द्वारा प्रयुक्त मिथक भी अक्सर 'आर्केटाइपल' होते हैं। संभवतः एलियट के कवि-कर्म में भी पुराण की उपस्थिति और सक्रियता की दिशा प्रारंभ में वही थी। कैथलीन रायने की एक कविता है 'दि ट्रेजिड आव दि गॉड्स' जिसमें कवियित्री देवताओं को केवल अपनी आसक्तियों और पीड़ाओं के प्रक्षेपण के रूप में ही नहीं देखती, उन्हें वह वास्तविक उपस्थितियों के रूप में भी अनुभव करती है। फ्रायड के वैज्ञानिक मिथक से जो नतीजा निकलता है वह यह है कि आदमी अपने स्वभाव और अस्तित्व की सीमाओं को स्वीकारना सीखे: आत्म-प्रक्षेपण से उपजे देवताओं और नायकों का मुँह जोहने का जो उसका पुरातन सस्कार और अभ्यास रहा है उससे एकबारगी मुक्त हो जाए। जबकि युंग, जो देवत्व को मानवी अवचेतन का आद्य बिम्ब मान कर चलता है, यह अपेक्षा करता है कि मिथक से मनुष्य को वह अतिमानवी शक्ति और ज्ञान निश्चय ही मिल सकना चाहिए जिसका वादा उसके मूल में ही निहित था। उसके लिए पुराण और मनुष्य की सत्ता अविच्छेद्य है: दोनों आरम्भ से ही एक सह अस्तित्व में रहते आए हैं। यह पुराण मनुष्य के अंतश्चेतन में निहित अतिप्राकृतिक तत्त्व हैं जो कल्प वृक्ष की तरह उसकी शक्ति और ज्ञान की सारी मनोकामनाएँ पूरी कर सकता है, बशर्ते वह अपने पुरखों की तरह सर्वभूतों में देवत्व की प्रतिष्ठा करने और उन्हें विधिवत् पूजने के प्राचीन पथ पर लौट आए। कैथलीन रायने की कविता में जहाँ एक के बाद एक देवता उस बूढ़ी होती स्त्री को छोड़ कर जा रहे हैं और साक्षी आत्मा अपने ही रंगमंच को सूना होते देख रही है तथा साथ ही भोक्ता आत्मा को इस बात पर अचरज और

विषाद प्रकट करते हुए भी देख रही है, वहीं कविता के अन्त में हम इस स्त्री को 'पर्सीफनी' की प्रतीक्षा करते पाते हैं। अभी एक और अन्तिम अनुष्ठान शेष है। कवियित्री इस तरह यही प्रश्न उभारती है जो कहीं एक निर्भय आशा का, सार्थकता का भी संकेत है, कि यदि उन देवताओं की अतिमानवी शक्ति का जीवन पर ऐसा एकछत्र अधिकार था तो क्या पर्सीफनी भी मृत्यु की एकछत्र स्वामिनी नहीं है ?

"....ऐण्ड आइ, हू हैव बीन वर्जिन ऐंड अफ्रोदितो
दि मोर्निंग आइसिस ऐण्ड दि क्वीन आव कॉर्न
वेट फॉर दि लास्ट ड्रैड पर्सिफनी
टु डान्स माई डस्ट एट लास्ट इन्टु दि टुम्ब"

पूरी कविता पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि कवियित्री जिस सहजता के साथ यथार्थवादी चिंतन से मिथिकीय चिन्तन की ओर बढ़ती है वह तभी संभव हो सकता है जब हमारे मन में ये दोनों वृत्तियाँ विद्यमान हों। वे जहाँ एक ओर देवताओं के 'आवागमन' को दर्ज करती हैं, वहीं साक्षी आत्म-भाव के नैरन्तर्य को भी। कविता के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसने दोनों को साध लिया है। अन्तिम पंक्ति एक ऐसी बुद्धि को सूचित करती है जो अपनी त्रासद सीमाओं के ज्ञान के साथ-साथ जीवन और मृत्यु दोनों को किसी अर्थ या विन्यास में प्रतिष्ठित कर सकने वाली पौराणिक मानसिकता का आवाहन कर सकती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि कवियों-रचनाकारों के लिए ठेठ दार्शनिक बौद्धिक स्तर पर न सही, भावनात्मक स्तर पर ही कम से कम एक ऐसा जीवन-दर्शन वांछनीय है जो उनके मनप्राण-इन्द्रियों को गोचर संसार की विक्षितियों से एक अक्षय ताज़गी के अहसास के साथ जोड़ रख सके और साथ ही उस सम्बन्ध में अर्थ के निरन्तर नव-नवोन्मेष की संभावना को भी जिलाए रख सके। लगता है, खाली सांख्य-योग या कर्म-योग से कवियों का काम नहीं चल सकता। उन्हें तो अनासक्ति योग भी तभी पल्ले पड़ता है जब वह विभूति-योग और विश्वरूप-दर्शन-योग के साथ एक गतिशील संतुलन में चल सके। यहाँ मुझे जाने क्यों कुंवरनारायण के पहले कविता-संग्रह **चक्रव्यूह** की जो पहली ही कविता है 'मध्यम' शीर्षक, उसकी कुछ पंक्तियाँ याद आ रही हैं : "जीवन से वही मेल रोज, धीरे धीरे कर न दे मलिन आत्म-दर्पण अति परिचय से ऊब से, थकन से, बचा रहे ... / रहने दो अविज्ञात बहुत कुछ .... ।" वैज्ञानिक युग में एक कवि की — और बौद्धिक स्तर पर अत्यन्त जागरूक कवि की — यह माँग उसकी वैज्ञानिक चेतना के भी तल में अन्तर्निहित पौराणिक मनुष्य की उस सनातन पुकार का ही संकेत उभारती है जो सृष्टि की आश्चर्यमयता को मरने देना नहीं चाहता, जो उस आत्म-दर्पण को भी अक्षुण्ण रखना चाहता है जिसमें यह सृष्टि देवता के काव्य की तरह प्रतिबिम्बित हो सकती है। जहाँ इस कविता में 'एक असन्तुष्ट चेतना' और 'स्खलित मन' का यथार्थ और विश्वसनीय चित्र उपस्थित होता है वहीं उसकी चेतना की "जीवन को किसी नये अर्थ में प्रतिष्ठित करने" की अदम्य आकांक्षा भी अभिव्यक्त होती है। अपने निबन्ध 'क्रिएटिव राइटर्स ऐण्ड डे ड्रीमिंग' में फ्रायड ने सृजनशील लेखक की तुलना एक ऐसे खेल में लगे बच्चे से की है जो अपनी दुनिया की चीज़ों को मनमाने ढंग से फिर से सजाता है, नए-नए

तरीकों से (....''हू रिअरेंजेज़ दि थिंग्स आव हिज़ वर्ल्ड इन ए न्यू वे दैट प्लीज़ेज़ हिम ..'')। कुंवरनारायण भी अपनी इस कविता में इसी बिम्ब, या कहिए, इसी फ्रायडीय मिथक का प्रयोग करते हैं। मगर ध्यान देने की बात है कि उनके यहाँ उसका अभिप्राय कुछ बदल जाता है -

''एक असन्तुष्ट चेतना है जो आवेश में पागलों की तरह
भाषा को वस्तु मान, तोड़-फोड़ कर
अपने एकांत में बिखरा लेती है
और फिर किसी सिसकते बालक की तरह कातर हो
भाषा के उन्हीं टुकड़ों को पुनः
अपने स्खलित मन में समेटती है, सँजोती है
और जीवन को किसी नए अर्थ में प्रतिष्ठित करती है

आगे, इसी कविता में एक ओर ''चाँद और सूनी रातों के बूढ़े कंकाल'' और ''पुरानी चौहद्दी की सीमा - रेखाएँ'' हैं तो दूसरी ओर 'मैं' के रूप में ''प्रकाश का वह अन्तः केंद्र'' है जिससे ''वस्तुओं की छायाएँ बदल सकती हैं।'' यह ''मैं'' अपनी पक्तियों में भभक कर ''संसार को नंगा'' ही नहीं करता, ''बल्कि अस्तित्व को दूसरे अर्थों में भी प्रकाशित करता है।'' ये दूसरे अर्थ क्या हैं या हो सकते हैं? कवि का स्वर वैज्ञानिक युग के एक वयस्क सदस्य की तरह निर्भ्रान्ति है जब वह अपने पाठक से, बल्कि मनुष्यमात्र से कहता है — ''मेरे इन असन्तुष्ट शब्दों को लो / और कला के इस विदीर्ण पूर्वग्रह मात्र को / सौन्दर्य का कोई नया कलेवर दो।' निश्चय ही यहाँ कवि का कवित्व भी मानो एक निर्वैयक्तिक पुरुषार्थ से ही प्रेरित और अनुप्राणित है और उसकी सार्थकता इसी में है कि वह ''मनुष्यमात्र की कल्पना के आसपास मँडराता हुआ जीवन की संभावनाओं का एक दृढ़ संकेत'' बन सके। कवि का सपना — कम से कम इस कविता में—उसका अपना व्यक्तिबद्ध सपना या 'यूटोपियन' सपना नहीं है बल्कि उसी के शब्दों में 'बाल-मानवता का स्वाभाविक सपना' है, जिसे येट्स ने 'रेडिकल इनोसेन्स' कहा है और जो फ्रायडीय नियतिवाद के विरुद्ध युंग की अपनी युक्ति का स्मरण दिलाता है।

''....स्वयंसिद्ध आनन्द के प्रौढ़ आलिंगन में
समा जाय ऋचाओं की गूँज सा आर्यलोक
पूजा के दूब सी कोमल नीहार-धुली
दुधमुँही नई-नई ससृति को
बाल-मानवता के स्वाभाविक सपनों तक आने दो....''

मेरा आशय निश्चय ही यह नहीं है कि कुँवरनारायण की कविता युंग की विचारणा की पुष्टि है। मैं तो केवल पुराण को लेकर जो चिंतन विकसित हुआ है उसको और इस समय के रचनात्मक लेखन को साथ-साथ रख कर देखना चाहता हूँ। फ्रायड और युंग दोनों इस क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण खोजी विचारक हैं और दोनों ने इस युग के रचना-साहित्य को प्रभावित किया है। किन्तु दोनों के बीच जो अन्तर है उसे ठीक-ठीक समझना-आँकना मुझे जरूरी लगता है।

खासकर हमारे अपने रचना-परिवेश के सन्दभ में। खुद हमारा आज का एतद्देशीय परिवेश भी विज्ञान से प्रभावित परिवेश है और उसकी गति भी औद्योगिक सभ्यता की दिशा में ही प्रतीत हो रही। किन्तु वह अभी तक अपनी पौराणिकता से विच्छिन्न नहीं हो पाया है। संभवत: पुराण और विज्ञान का सम्बन्ध यहाँ अभी तक उसी तरह का चला आ रहा है जिसे कवि विपिन अग्रवाल 'गतिहीन सह-अस्तित्व' कहते थे। चिंतन के स्तर पर पुराण-दृष्टि और वैज्ञानिक दृष्टि के बीच उस तरह की मौलिक टकराहट भी यहाँ अभी होनी बाकी है जो हमें फ्रायड और युंग के विचारों की इस विलम्बित ऊहापोह से वास्तव में उबार ले और उसे ग़ैर ज़रूरी बना दे। इस ज़रूरी या गैरज़रूरी प्रकरण को जल्दी से समेट कर हमें आगे बढ़ जाना है जहाँ इस विषय से सम्बद्ध अन्य विचारों की टकराहट भी सामने आए और उसी सिलसिले में आधुनिक रचना-साहित्य, ख़ासकर आधुनिक हिन्दी रचना-साहित्य का भी थोड़ा जायज़ा लिया जा सके। दरअसल इसी के पूर्वालाप के रूप में कुँवरनारायण की कविता का उल्लेख हुआ था। उस कविता की ऊपर उद्धृत पंक्तियों पर ग़ौर कीजिए-'प्रौढ़' और 'दुधमुंही' के मार्मिक पैराडॉक्स को देखिए, 'असन्तुष्ट चेतना' की आधुनिक अनुभूति को 'ऋचाओं की गूँज' टकराकर 'बाल-मानवता के स्वाभाविक सपनों' तक आने देने वाले कवि-कर्म की आनुष्ठानिकता पर ध्यान दीजिए और फिर युंग के 'मैन ऐण्ड हिज़ सिम्बल्स' में एक आधुनिक मनीषी को, अपने भौतिक परिवेश के प्रति पौराणिक युग के मनुष्य में जो पूजा-भाव था, उसे समझने की कोशिक करते हुए देखिए :—

"आज का आदमी जिस तरह अपने भौतिक परिवेश को देखता है उससे कितनी भिन्न थी वह मूरत जो आदिम मनुष्य के चित्त में इसी प्रकृति को लेकर बनती थी! जगदम्बा (दि ग्रेट मदर) की यह मूल धरती माता के गहरे भावनात्मक अभिप्राय को समाविष्ट और व्यक्त करती थी। उसी तरह, तब जो 'स्पिरिट' के रूप में, जगत्पिता के रूप में पूजित था, वह अब जगत्पिता नहीं रहा; अब उस की पहचान बुद्धि (इन्टैलेक्ट) तक ही सीमित हो गई है। वह अपने पुरातन पद से स्खलित हो कर आदमी के संकुचित अहं-भाव में सिमट चुका है। परम पिता के आद्यबिम्ब में जो अतुलित भाव-ऊर्जा निहित और व्यक्त थी वह इस अर्थसंकोच के फलस्वरूप अब एक बौद्धिक मरुस्थल में विलीन हो चुकी है।"

मन में सवाल उठता है कि क्या यह बौद्धिक मरुस्थल पश्चिम का ही यथार्थ है याकि वह भारत में भी फैल रहा है और भारतीय कवि भी उसे अपनी ओर बढ़ते देख रहा है? यदि नहीं, तो क्या यहाँ एक दूसरी तरह का मरुस्थल पैदा नहीं हो रहा है? उसके लक्षण क्या हैं और हमारे रचना-साहित्य में वे किस रूप में प्रकट हो रहे हैं? अज्ञेय की कुछ कविताएं इस सिलसिले में यहाँ पर याद आ रही हैं। अज्ञेय की ही एक दूसरी कविता है—'हवाई यात्रा : ऊँची उड़ान,' जिसमें कवि 'रासायनिक धुन्ध की चौकट झिल्ली में पनपते मानव के समूह-जीवन को प्रत्यक्ष करता है और उस 'नर' को भी जिसकी 'अनझिप आंखों' में 'नारायण की व्यथा' भरी है। एक और कविता है जिसमें अर्थहीन आकारों की अर्थहीनतर भीड़ है, निर्जल उमड़ता पारावार है नकारों का और अन्त में यह प्रश्न है कि "कहां गया वह जिसने सब कुछ को/ऋत के ढाँचे में था बैठाया?" क्या ऊपर उद्धृत युंग के अवतरण के पीछे भी इसी प्रश्न

की गूँज नहीं है? निस्सन्देह उसके अपने यूरोपीय मुहावरे में ही? 'नदी के द्वीप' शीर्षक कविता में द्वीप की उक्ति है : "मां है वह, है, उसी से हम बने हैं।" कवि 'रेत के उस विस्तार' को भी आँके बिना नहीं रहता जिसमें नदी 'कृशधार' होते-होते 'खो' जाती है। किन्तु वह साथ ही साथ उनकी उपस्थिति को भी दर्ज करता है जो "मरु की ओर बढ़ी/अदृश्य अन्त:सलिला को चुपचाप कुछ कहे बिन/भीतर की ओर/मोड़ गए"।

युंग का वैचारिक प्रयत्न भी, जैसा हमने देखा, इसी अन्त:सलिला को अपने ढंग से समझने और उसकी खोज में वर्तमान बौद्धिक मरुस्थल से विपरीत दिशा में आधुनिक मानव की असन्तुष्ट चेतना को मोड़ने का है। इस काम में उसे मिथक मूल्यवान् लगते हैं : पुराण की मूल्यवत्ता को वह इसी तरह पहचानता है। फ्रायड भी मिथक की मूल्यवत्ता को पहचानता है : बल्कि इस पहचान का सर्वप्रथम श्रेय तो उसी को जाता है। किन्तु जहाँ वह मिथक की सामर्थ्य का दोहन करने के लिए पहले उस की सीमाओं को निर्धारित-परिभाषित कर लेता है और फिर सर्वशक्तिमत्ता की मानवीय तृष्णाओं को अभिव्यक्त करने के लिए उसे एक वैज्ञानिक प्रतीक-भाषा के रूप में इस्तेमाल करता है। वही युंग का प्रयत्न इसके विपरीत मिथक के मूल रहस्य को-उसके खुलेपन को कायम रखते हुए—उसे और अधिक व्यापक बनाने का, तथा उसके किसी कालातीत और अनश्वर मर्म तक पहुँचने का है। इसी सिलसिले में मुझे यहाँ अज्ञेय के मिथक-सम्बन्धी विचारों का भी हवाला दे देना उपयुक्त लग रहा है। 'स्रोत और सेतु' नामक पुस्तक में एक जगह वे लिखते हैं :

"मिथक एक तरफ अपनी पहचान का और दूसरी तरफ़ अपनी रक्षा का भी साधन होते हैं। इस दोहरी प्रवृत्ति से वे हमेशा एक शक्ति का स्रोत भी बने रहते हैं।.... जब भी, जहाँ भी हमारी रिएलिटी की पहचान संदिग्ध होती है तभी वहीं हम मिथक का सहारा लेते हैं, क्योंकि मिथक 'रिएलिटी' की पहचान का हमारा सबसे पुराना साधन रहा है—तर्क-बुद्धि से कहीं पुराना, प्राक्तन तर्क।....मिथकों में एक तरफ हमारे साधारण मानवीय याकि व्यक्ति जीवन की कोई महत्त्वपूर्ण परिस्थिति ली जाती है और उसको एक व्यापक वैश्विक सन्दर्भ में रखा जाता है दूसरी ओर कोई विश्वव्यापी घटना ली जाती है और उसको एक मानवीय, बल्कि व्यक्ति-जीवन के संदर्भ में रखा जाता है। यह उभयोन्मुखी गति दोनों सन्दर्भों को जोड़ने का और सत्ता के प्रवाह का मार्ग खोलने का ही प्रयत्न है। व्यक्ति एक व्यापक विश्व में है और विश्व फिर व्यक्ति में है....।"

मैं समझता हूँ मिथक की यह व्याख्या काफी तर्कसंगत और समावेशी है। युंग 'धर्म' और 'स्पिरिट' की अवधारणाओं का इस्तेमाल करता है जो यहाँ अनुपस्थित हैं। फिर भी, मुझे नहीं लगता, युंग को इस परिभाषा पर कोई खास आपत्ति होगी क्योंकि यहाँ भी मिथक को 'सत्ता के प्रवाह का मार्ग खोलने के प्रयत्न' से ही जोड़ कर देखा गया है, जिसकी संगति फ्रायड की बजाय युंग की विचारणा से ही अधिक बैठती जान पड़ती है। यहाँ मुझे अचानक अज्ञेय की एक बहुत प्रारंभ की कविता याद आ रही है....'इत्यलम्' की.... "मैं भी एक प्रवाह में हूँ—/ लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है/मैं उस असीम शक्ति से सम्बन्ध जोड़ना

चाहता हूँ–/अभिभूत होना चाहता हूँ/जो मेरे भीतर है।"…. जिस परंपरा में सेश्वर होना तक अर्धचेतना की अनिवार्य शर्त न रही हो, जहाँ निरीश्वर धार्मिकता भी उच्चतम बुद्धि-ऊर्जा और गहनतम भाव-ऊर्जा से जुड़ सकी हो, वहाँ इस तरह की विचार-दृष्टि या भाव-दृष्टि भी अपनी वैज्ञानिकता और तार्किकता के बावजूद धार्मिक या धर्मसम्मत दृष्टि ही मानी जाएगी, इसलिए भी कि उसका तथाकथित वैज्ञानिक मानववाद भी पश्चिमी विचारधाराओं की मानव-केन्द्रित विश्व-दृष्टि से भिन्न हो जाता है। मानव और मानव-व्यक्ति को महत्त्व देते हुए भी वह समस्त विश्व को मानव के उपभोग की सामग्री नहीं मानता। 'नन्दादेवी' के विराट् सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हुए भी उसकी कल्पना उस दुःस्वप्न से आक्रान्त हो जाती है जब…. "बीस-तीस-पचास बरसों में/हम तुम्हारे नीचे एक मरु बिछा चुके होंगे….।" 'असाध्य वीणा' का वादक उसमें 'प्राचीन किरीटी तरु' के दर्शन करता है : उससे तादात्म्य साधे बिना उसकी संगीत-साधना अधूरी है। बिम्ब से प्रतीक और प्रतीक से पुराण तक की अज्ञेय की काव्य-यात्रा इस पौराणिक कविता में मानो एकबारगी झलक आती है। प्रियंवद केशकम्बली द्वारा 'किरीटी तरु' का—उसमें स्पन्दित प्राणों का—यह आवाहन जिस संगीत को मुक्त करता है वह प्राकृतिक भी है और अतिप्राकृत–दिव्य भी।

दरअसल, विज्ञान में दीक्षित और वैज्ञानिक दृष्टि के महत्त्व को स्वीकारने वाला कवि भी अपनी विकसित तर्क-बुद्धि और परिपक्व संवेदना के बूते ही उस दृष्टि की सीमाओं को देर-सबेर पहचान ही लेता है। इस पहचान से उस दृष्टि का महत्त्व नहीं घट जाता, बल्कि वह मनुष्य के सम्पूर्ण भाव-बोध में अपनी वाजिब जगह पा लेता है। जैसाकि युंग ने भी कहा ही है—"मानवचित्त एक ऐसी समग्र इकाई है जो चेतना को अपने में समाविष्ट करती है और चेतना की भी जननी है। वैज्ञानिक चिंतन चूँकि इसके अनेक कार्यों में से एक कार्य है, अतः वह कभी भी जीवन की समस्त संभावनाओं को निःशेष नहीं कर सकता।" निश्चय ही विज्ञान भी रचना-साहित्य की तरह सत्य की खोज या सत्य के साथ प्रयोग ही है और यह भी सच है कि दोनों आखिर एक चौखटे के भीतर ही यह खोज करते हैं। निर्विशिष्ट सत्य का दावा तो दोनों ही नहीं कर सकते। किन्तु वैज्ञानिक को यह सुविधा है कि वह जिस चीज़ पर खुद ही अपनी सहज बुद्धि से विश्वास नहीं करता उसे भी मानकर चल सकता है। यह दूसरी बात है कि इसी कारण प्रकृति के सामने, या स्वयं अपने चैतन्य के सामने उसकी हैसियत एक बाहरी आदमी की ही रहती है—वस्तुपरकता उसकी अपरिहार्य नियति बन जाती है। माइकेल पोलैनी के शब्दों में—"वे वैज्ञानिक भी, जो अपने होशोहवास में इस बात पर कभी यकीन नहीं करेंगे कि चेतना का अस्तित्व नहीं है, वे भी इस झूठ को बराबर चलाते रहते हैं और हम से भी उसको सच मान कर चलने का आग्रह करते हैं।" इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिम में प्राचीन मिथकों को भी ज्ञान के एक वैध स्रोत के रूप में देखने की प्रवृत्ति विज्ञान के स्तर पर, वैज्ञानिक दृष्टि के फलस्वरूप ही पनपी। किन्तु इस वैज्ञानिक दृष्टि का एक ऋण-पक्ष भी है जिसे अनदेखा करना अब संभव नहीं रह गया है। वह ऋण-पक्ष महज वही नहीं है जिसे वर्ड्स्वर्थ ने देखा था, याकि जो 'प्रतीकों से देवताओं के कूच कर जाने' के पीछे झलकता है। वह ऋण-पक्ष दो स्तरों पर अनुभव किया जा रहा है : एक तो वैज्ञानिक चेतना का भरपूर

दावा ठोंकने वाले—किन्तु वस्तुतः विज्ञान के बहुत ही दूर के रिश्तेदार शास्त्रों द्वारा फैलाई गई धुन्ध में, और दूसरे, स्वयं विज्ञान द्वारा अपदस्थ कर दिए गए, दर्शन की दुरवस्था में। दोनों ही स्तरों पर सत्य की क्षति किस तरह होती है इसका कुछ अनुमान निम्नलिखित उद्धरणों से लगाया जा सकता है। पहला उद्धरण अर्नेस्ट गेलनर के 'थॉट ऐण्ड चेंज' से लिया गया है और दूसरा माइकेल पोलैनी के निबन्ध 'ऑन दि मॉडर्न माइण्ड' से। पहले समाजशास्त्री गेलनर की ही बात सुनें :

"हमारा सौभाग्य है कि हमें एक ऐसे संसार में रहने को मिल रहा है जहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है। ऐसी ही चलायमान दुनिया आदमी के सर्वोच्च पुरुषार्थ को प्रकट कर सकती है। जहाँ पहले के समाजचिन्तक टिकाऊ मिथकों में शरण लेते थे वहाँ हमें यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि हम एक सङ्क्रमणकाल की शर्तों के मुताबिक स्वयं को ढालें। खासकर, यह जो औद्योगिक समाज की ओर ले जाने वाली महान् संक्रान्ति विश्वव्यापी स्तर पर घटित हो रही है, उसके सुर में सुर मिलाना हमारे जीवन की, हमारी विचार-शक्ति की भी, सबसे बड़ी सार्थकता है। अभी तक हुआ यह है कि हमारे दर्शनशास्त्री यथार्थ से बच निकलने को कोई आसरा खोजते रहे हैं [मसलन, 'सामान्य भाषा' की बहलावे भरी ऊष्मा में, अथवा 'परम्परा' की दूरागत प्रतिध्वनियों में] जबकि उन्हें चाहिए यह कि वे आधुनिक सभाज-विज्ञान के लिए, उसी को पुष्ट करने वाला ज्ञान-मीमांसात्मक आधार प्रस्तुत करें और साथ में ऐसी नैतिक समीक्षा भी' जो खरी तो हो ही, अवसरानुकूल लचीली भी हो।"

मेरा ख्याल है कि ऐसा आत्मविश्वासपूर्ण स्वर तो चोटी के वैज्ञानिकों में भी नहीं मिलेगा। फ्रायड तक कहीं यह महसूस करता था कि विज्ञान के नियम और सिद्धान्त भी अन्ततः चरम सत्य नहीं होते, 'कण्टिण्जेण्ट सत्य' ही होते हैं। हम उसे आइन्स्टाइन से यह सवाल पूछते सुनते हैं : "क्या हर विज्ञान अन्ततः एक तरह की माइथॉलॉजी में परिणत नहीं हो जाता? क्या यही बात आज तुम्हारी भौतिकी के बारे में भी नहीं कही जा सकती?" ....अभी हाल में 'पूर्वग्रह' में वागीश शुक्ल का एक लेख छपा है जिसमें उन्होंने एक दूसरे सन्दर्भ में बड़ी पते की बात कही है। वह यह कि "वैज्ञानिक होने के आधार पर बिशिष्टता के दावे सामाजिक विज्ञानों में हैं और सामाजिक विज्ञानों की चेतना के आधार पर विशिष्टता के दावे कविता और कविता की आलोचना में। यह अद्भुत् है कि जिस वैज्ञानिक चेतना की सारी गरिमा और शक्ति इस बात में है कि वह पारिस्थितिकी के पार जा सकती है और इसीलिए पारिस्थितिकी के बारे में सर्वाधिक विश्वसनीय होती है उस वैज्ञानिक चेतना के नाम पर एक पारिस्थितिकी की ढाल ली जाय और उस ढाल के नाम पर चिंतन को खारिज दाखिल किया जाय।"

अब हम एक दूसरे स्तर की आलोचना को—स्वयं वैज्ञानिक दृष्टि की सीमा का निदर्शन करने वाली आलोचना-दृष्टि को—उद्धृत करना चाहेंगे। यह उद्धरण अपने-आप में उस पहले वाले उद्धरण पर—समाजशास्त्री गेलनर के वक्तव्य पर—एक पर्याप्त टिप्पणी है। 'आन दि मॉडर्न माइण्ड' शीर्षक अपने निबन्ध का उपसंहार करते हुए माइकेल पोलैनी कहते हैं :—

"हमें एक ऐसी ज्ञानमीमांसा की ज़रूरत है जो 'पॉज़िटिविस्ट स्केप्टिसिज़्म' में निहित भ्रांति को उजागर कर सके और उन वास्तविकताओं के हमारे अन्तर्ज्ञान को पुष्ट आधार दे सके जो उच्चतर सिद्धान्तों से अनुशासित होती हैं। कोई भी उच्चतर सिद्धान्त उसी के द्वारा वस्तुतः जाना जा सकता है जो उसके द्वारा अनुशासित विशिष्टताओं में स्वयं निवास करते हुए उन्हें भीतर से देख सके। अस्तित्व की किसी उच्चतर अवस्था को महज़ उसके ब्यौरों की बाहरी जांच-पड़ताल द्वारा जानने का हर प्रयत्न आरम्भ में दूषित, अतः निष्फल होगा। संसार में जो कुछ भी सचमुच मूल्यवान् है उसके प्रति हम अपने तार्किक सोच में तब तक अन्धे ही बने रहने को अभिशप्त हैं जब तक हम इस अन्तेवासित्व (नॉलेज बाइ इन-ड्वैलिंग) को ज्ञान की एक सर्वथा वैध प्रणाली के रूप में मान्य नहीं करते।"

× × ×

यह तो हुई वैज्ञानिक दृष्टि के ऋण-पक्ष की बात। यह मानते हुए कि पश्चिम के लेखक की तुलना में भारतीय लेखक का साबका जिस परिवेश से पड़ता है वह वैज्ञानिक की बजाय पौराणिक परिवेश ही अधिक है, क्या हम इस पौराणिक दृष्टि के भी ऋण-पक्ष की संक्षिप्त चर्चा लगे हाथ नहीं कर ले सकते हैं! मुक्ति-बोध की एक कविता है—'टी.यस. एलियट के प्रति' [**मुक्तिबोध रचनावली, खंड 1** पृ. 168–69] जिसमें एलियट के 'वेस्टलैण्ड' से गुज़रते हुए कवि की आँखों में अपने परिवेश की कुरूपता और 'ह्रास' के भी चित्र उभरने लगते हैं :—

...."पढ़ रहा था कल तुम्हारे काव्य को....
और मेरे बिस्तरे के पास
नीरव टिमटिमाते दीप के
भोले अंधेरे में दिखे
भोले अंधेरे में घिरे सारे सुझाव!
गहनतम संकेत!
हमारे यहां भी है ह्रास।"....

कविता अपूर्ण है। किन्तु मुक्तिबोध की तमाम दूसरी कविताओं में इस 'ह्रास' के सुझावों और संकेतों का विस्तार देखा जा सकता है। मुक्तिबोध के मुताबिक यह पूंजीवादी सभ्यता का ह्रास है जो पूरब-पश्चिम पर एक सरीखा लागू हो रहा है। 'ह्रास' की यह मार्क्सवादी व्याख्या है जो वैज्ञानिक और सार्वभौम होने का दावा करती है। किन्तु ह्रास की एक पौराणिक व्याख्या भी थी जिसके अनुसार सतजुग से कलजुग तक धर्म क्रमशः क्षीण होता जाता है। अभी बाबा आमटे की एक कविता पढ़ी थी। वह इस दृष्टि से दिलचस्प है कि उसमें ह्रास की इस पौराणिक दृष्टि का समन्वय विज्ञान की दृष्टि से करते हुए मानव-भविष्य में आस्था प्रकट की गई है।

यों विज्ञान के प्रति कुल मिलाकर हिन्दी-लेखक का मनोभाव सराहना और स्वागत का ही रहा है और उसकी चुनौती के सम्मुख आत्मालोचन की प्रवृत्ति भी ठेठ गुप्तजी के ज़माने से अभी तक बराबर सक्रिय देखी जा सकती है। 'भारत-भारती' में ही कवि पूछ रहा है : "कितने प्रयोग-प्रदीप इस अनुदारता से हैं बुझे?".... कहा जाता है कि नई वैज्ञानिक चेतना के प्रति इस बढ़ते हुए सकारात्मक रुख के चलते पहले प्रयोगवाद और फिर उसी की अगली

कड़ी के रूप में नयी कविता का प्रवर्तन हुआ। क्या यह कहना ठीक होगा कि पुराण-बिंबों का भी सबसे रचनात्मक प्रयोग उन्हीं कवियों के हाथों हुआ जो इस वैज्ञानिक दृष्टि के प्रति सबसे अधिक खुले रहे याकि जिनकी जीवन-दृष्टि उससे सबसे ज़्यादा प्रभावित हुई! आज प्रगतिशीलता का जो एक रूढ़-सकीर्ण राजनैतिक अर्थ हो गया है, उसे छोड़ दें तो इस शब्द के रचनात्मक अर्थ में ये सभी कवि प्रगतिशील थे और हैं। इसलिए कि वैज्ञानिक दृष्टि के तर्क से भी, जो अपनी रचना में प्रयोगशील नहीं है, जो अभिव्यक्ति की नई प्रणालियां नहीं खोज सकता, वह प्रगतिशील नहीं हो सकता। इस सच्चे अर्थ में यह काल वैज्ञानिक दृष्टि के साथ एक सीधा रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाला काल कहा जा सकता है। हाँ, यह ज़रूर हो सकता है कि इसमें स्वयं विज्ञान की सीमाओं का बहुत गहरा विवेक न उभर पाया हो और एक तरह का रोमैण्टिक उत्साह ही इसमें अधिक सक्रिय रहा हो। किन्तु बाद के दौर में इस वैज्ञानिक दृष्टि से एक तरह का स्खलन दिखाई देता है। और इसे वैज्ञानिक दृष्टि से समाज-शास्त्रीय दृष्टि में स्खलन का नाम दें तो शायद बहुत ग़लत न होगा। यहाँ आते-आते दोनों छोरों पर एक तरह की सिकुड़न आ जाती है : न तो उस तरह की रचनात्मक प्रयोगशीलता का उन्मेष दीखता है, न पुराण —पौराणिक अनुभव— के ही पुनर्नवीकरण अथवा पुनर्मूल्यांकन सरीखा उद्योग। मज़े की बात यह है कि जहाँ पौराणिक गाथाओं के कवि मैथिलीशरण गुप्त की सपाट भाषा वर्तमान पर एकाग्र होते ही उसे और प्रत्यक्ष देखने-दिखाने में समर्थ लगती है, वहां आज के कवि की वर्तमान से बुरी तरह चिपटी हुई भाषा वर्तमान को और भी अपारदर्शी बना देती प्रतीत होती है। इसका क्या कारण है? कहीं ऐसा तो नहीं कि यह पौराणिक और वैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों के घालमेल अथवा सरलीकरण का, या कि दोनों की ग़लत व्याख्या का परिणाम हो!

इस सिलसिले में हमें देखना होगा कि इस संक्रमण-काल में हमारे रचनाकार किस तरह की वैचारिक उथल-पुथल से गुज़रते रहे हैं और उनकी रचना का साक्ष्य क्या जताता है? दुर्भाग्य से हमारे यहाँ वह स्वतंत्र—व्यापक बौद्धिक वातावरण बन नहीं पाया जिसमें विभिन्न क्षेत्रों के बुद्धिजीवी आपस में टकराते और एक-दूसरे के योगदान से लाभान्वित होते हैं। दर्शन और धर्म में यदि उस तरह के रचनात्मक उन्मेष कहीं प्रगट भी हुए हैं तो उनसे हमारे रचनाकारों को प्रेरणा मिलती नहीं दिखाई देती। न हमारे वैज्ञानिक ही व्यापक स्तर पर एक मौलिक स्वतःस्फूर्त्त चिन्तन को उकसाने वाला खमीर पैदा कर पाये। फलतः रचनाकार को एक प्रतिक्रियाविहीन परिवेश में खुद अपने भरोसे काम करना पड़ा। इस स्थिति के अपने नुकसान होते हैं। जैसा कि कुँवर नारायण ने **आत्मजयी** की भूमिका में लिखा है, "कवि आवश्यकतः ही विचारक होता है। विचारक होना उसका धर्म नहीं, आपद्धर्म ही है।" तो यहां पर साहित्य-क्षेत्र के ही रचनाकार-बुद्धिजीवियों के जो दृष्टिकोण सामने आए हैं उन्हीं का उल्लेख करते हुए इस लेख का समापन करना उचित होगा। पहले इस आलोचना-क्रम में **आत्मजयी** के कवि कुँवर नारायण की ही बात सुनें। वे कहते हैं कि :—

"ग्रीक पुराकथाओं की ही तरह भारतीय पुराकथाएँ भी आरम्भ में रहस्यवादी ढंग की नहीं थीं। वे मनुष्य और प्रकृति के बीच बड़े ही घनिष्ठ सम्बन्धों का रोचक और जीवन्त कथा-रूप थीं। लेकिन आज हिन्दू धर्म और हिन्दू पौराणिक अतीत को अलग कर सकता

असंभव है। जबकि ग्रीक पुराकथाएँ ईसाई धर्म और यूरोपीय रहस्यवाद से लगभग अछूती रहीं भारतीय पुराकथाओं पर परवर्ती धार्मिक रंग इतना गहरा है कि उसे विशुद्ध मानवीय महत्त्व दे सकना सहसा कठिन लगता है। ग्रीक पुराकथाओं में आदिमानव की अन्तःप्रकृति का अधिक अरजित रूप सुरक्षित मिलता है। इसीलिए कामू का 'सिसीफस' या जेम्स ज्वाइस का 'यूलिसीज़' पुराकथात्मक चरित्र होते हुए भी धार्मिक चरित्र नहीं लगते—उन्हें साहस जैसे नितान्त मानवीय गुण का प्रतीक मानकर चलने में उस प्रकार का धार्मिक व्यवधान बीच में नहीं आता जैसा अवतारवाद के कारण भारतीय देवी-देवताओं के साथ आता है।"

यह विचारोत्तेजक टिप्पणी पाठक के मन में कई प्रश्न जगा सकती है। मसलन, रामायण, या महाभारत पढ़ते हुए एक आधुनिक पाठक के लिए धार्मिक व्यवधान क्यों आड़े नहीं आता ? अगर पाठक 'विलिंग सस्पेंशन आव डिस्बिलीफ' कर सकता है तो लेखक क्यों नहीं कर सकता है ? दूसरा प्रश्न : अवतारवाद से जुड़े पुराण—चरित्रों या प्रसंगों का उपयोग ऋणात्मक या धनात्मक रूप में क्या नयी कविता में ही नहीं किया गया ? मिथक में 'दुर्दान्त ऐतिहासिक स्पन्दन देखने' के आग्रही मुक्तिबोध को कृष्ण-जन्म के मिथक का धर्मनिरपेक्ष, बल्कि नितान्त भौतिक-ऐतिहासिक उपयोग करने में क्यों कोई अड़चन नहीं होती ? ["जाने किसके डर से स्थानांतरित कर रहे वे जीवन के आत्मज सत्यों को !"....] इसी तरह धर्मवीर भारती के **अंधा युग** में कृष्ण जिस जगह आते हैं क्या रचना के पौराणिक–आधुनिक रस में उससे स्खलल पड़ता है—जिस तरह, कि **कनुप्रिया** में पड़ता है ? एक और उदाहरण : अज्ञेय की **जरा-व्याध सीरीज़** की कविताएँ।.... "कृष्ण ! मैंने मारा नहीं तुम्हें। मैंने/अपने को बांधा है तुम्हारे साथ/और तुम मेरे साथ बँधे हो/मेरे साथ !/यही क्या नियति है ?...." क्या यहाँ इस पौराणिक प्रसंग को कवि के हाथों एक विशुद्ध मानवीय महत्त्व या मर्म मिलने में धार्मिक व्यवधान उस तरह आड़े आता है ?.... इस तरह के कई प्रश्न उठ सकते हैं। स्वयं धार्मिक संवेदना की आधुनिकता को लेकर भी।

अब हम दूसरी टिप्पणी पर आते हैं। टिप्पणी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि—चित्रकार और विज्ञानकर्मी विपिन अग्रवाल की है जो उनकी पुस्तक **आधुनिकता के पहलू** से ली गई है :

"हमारे यहाँ विचार का मतलब है विषयों का वर्गीकरण करना, अमूर्त्तन के माने हैं सरलता को ले आना, ज़िम्मेदारी और गंभीरता बराबर है मिथ या ठेठ भारतीयता के उपस्थित होने के, और आधुनिक होने का ढंग है अन्तर्राष्ट्रीय शैली का सजा-सजाया प्रयोग करना। हमारे सब रचनात्मक प्रयास बिना ज़रूरत के सरल हैं, उनमें मिथ और प्रतीक आरोपित हैं और वे बेशर्मी से कलात्मक या साहित्यिक हैं। हमारे विचारों की प्रगति की बुनाई में न रेखागणित के तत्त्व आ पाए हैं, न बीजगणित के। यह अभाव हमारी संकृति और इतिहास के ढाँचे में भी मौजूद है।"....

अब यह तो संस्कृति और इतिहास के, बल्कि दर्शन के विशेषज्ञ ही बता सकेंगे कि हमारे विचारों की प्रगति की बुनाई में जो कमियाँ रही हैं वे किस सीमा तक देश की स्वाधीन रचना और चिंतन को अवरुद्ध करती रही हैं। किन्तु इस अवरुद्धता के जो लक्षण वर्तमान में

विपिन जी ने गिनाए हैं उनकी उपस्थिति से शायद ही किसी को इन्कार हो। कुँवर नारायण को **आत्मजयी** के उपसंहार में नचिकेता 'घातक श्रद्धाओं' के बीच अपने ही सपनों को बनाती-मिटाती, 'महाशून्य में निर्वासित केवल आत्मा' की बात करता सुनाई देता है। विपिन जी ने मिथ और ठेठ भारतीयता का समीकरण बिठाते हुए जिस व्यंग्यार्थ का सूचन किया है वह ध्यान देने योग्य है : खासकर ऐसे रचनात्मक प्रयासों के संदर्भ में जहाँ मिथ और प्रतीक अपनी अवस्थिति की जटिलता के बोध से उद्भूत न हो कर महज़ इच्छित चिंतन के बूते आरोपित हों। दरअसल, मिथक का नए सिरे से रचनात्मक सामना करने की जरूरत सिर्फ एक घातक सन्देहवाद या नकारवाद के तहत ही नहीं हुआ करती, बल्कि 'घातक श्रद्धाओं' के कुण्ठाकारी परिवेश और बौद्धिक चुनौती के अभाव से ग्रस्त बौद्धिकता के तहत भी होती है। क्योंकि वहाँ भी अनुभूति का, अस्मिता का सकट उसी अनिवार्यता के साथ उपस्थित होता है। आज के बुद्धिवादी जगत् में **आत्मजयी** की ही शब्दावली का प्रयोग करते हुए कहें तो—श्रद्धा भी "दूसरों के सरल आश्वासनों और फूहड़ पहचानों से मिली हुई सुरक्षा" के कारण ही एक ईमानदार बुद्धिजीवी के लिए सन्दिग्ध हो जाती है। वे सम्बन्ध भी उसे आश्वस्त नहीं कर सकते जिनके परिणाम पूर्वनिश्चित हैं। किन्तु तब निश्चय ही समस्या केवल विज्ञान से सही ढंग से जुड़ने की नहीं रह जाती, जैसाकि विपिन जी के उपर्युक्त वक्तव्य से ध्वनित होता है। तब सवाल स्वयं आधुनिक वैज्ञानिक बुद्धि की विडम्बनाओं के भी यथार्थ आकलन का बन जाता है। क्या यह अकारण है कि वैज्ञानिक बुद्धि की सीमाओं का भी काफी कुछ स्पष्ट अहसास और निरूपण पश्चिम में उन्हीं विचारकों ने अधिकतर किया है जिनकी शिक्षा-दीक्षा विज्ञान की ही रही ?

ऊपर हमने माइकेल पोलैनी के एक निबन्ध 'ऑन दि माडर्न माइण्ड' का हवाला दिया था। उस निबन्ध में पोलैनी ने आधुनिक बुद्धि की मूलभूत विडम्बना और अन्तर्विरोधमय कुण्ठा का मार्मिक विश्लेषण किया है। आधुनिक मन में यह अन्तर्विरोध एक अतलान्त प्रत्यक्ष-वादी सन्देहवाद और उतने ही दुर्दान्त नैतिक पूर्णतावाद के बीच है [मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' की पंक्तियाँ यहाँ सहज ही मेरे मन में गूँजने लगी हैं : "ज्यामितिक संगति-गणित की दृष्टि से कृत भव्य नैतिक मान/अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना कब रहा आसान !" .."आत्म-चेतस् किन्तु इस व्यक्तित्व में थी प्राणमय अनबन ../विश्वचेतस् बेबनाव..../....]। पोलैनी ने दर्शाया है कि किस तरह यह अनबन, यह अन्तर्विरोध एक ओर कला तथा दर्शन में तथा दूसरी ओर राजनीति के क्षेत्र में प्रतिफलित हुआ है। उसके कथनानुसार एक जगह उसकी परिणति असीमित व्यक्तिवाद में हुई है तो दूसरी जगह सर्वसत्तावाद में। आधुनिक मनुष्य का मन आप अपना सबसे बड़ा वैरी बन गया है—अपने लाइलाज आत्म-विभाजन के चलते। वह सन्देह की निरन्तर ताड़ना से छुटकारा पाने के लिए अपनी एक ऐसी पहचान पाने को छटपटाता है जो असन्दिग्ध हो। किन्तु उसकी संशयात्मिका बुद्धि के लिए कुछ भी तो असन्दिग्ध नहीं रह गया है ! तो नीतशे का यह उत्तराधिकारी अपने होने की सन्दिग्धता से अगर कहीं राहत पा सकता है तो केवल एक ऐसे कर्म में जो नैतिकता-निरपेक्ष हो, अर्थहीन हो। निश्चय ही नैतिक सापेक्षवाद की यह अनिवार्य परिणति, यह 'मौरल इन्वर्ज़न' भी मानव-इतिहास में उतनी ही अभूतपूर्व घटना है जितनी कि आधुनिक विज्ञान के चमत्कार।

भारत का बुद्धिजीवी इस व्याधि से सर्वथा मुक्त है, सुरक्षित है, यह दावा करना तो अब आज की घड़ी में मुश्किल होगा। जो लक्षण प्रकट हो रहे हैं उन्हें मात्र अनुकरण कह के टाल देना भी ग़लत होगा। तो विचार के स्तर पर और रचनात्मक भाव-बोध के स्तर पर इन चुनौतियों का सामना करने और नया रास्ता खोजने की क्षमता हम में प्रकट हो रही है या नहीं, असल प्रश्न यह है। स्वयं पश्चिम के बुद्धिजीवन में इस क्षमता का संकेत कुछ तो सैद्धान्तिक विज्ञान के भीतर से ही उठी नई शंकाओं-जिज्ञासाओं के ज़रिए झलक रहा है और कुछ इसके दूसरे छोर पर पुराण के ही मौलिक मन्थन में से। एक मज़े की बात यह है कि जहाँ हमारे नीरद चौधरी सरीखे बुद्धिजीवी एक नया मिथक रचते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "हम हिन्दुओं का कोई भविष्य नहीं है यदि हम अपनी पुरानी, हज़ार परतों के नीचे दबी पड़ी यूरोपीय आत्मा को फिर से उपलब्ध नहीं कर लेते," वहाँ हाइनरिख़ त्सिमर सरीखे पुराण-विशेषज्ञ अपनी खोजों से इसके लगभग विपरीत निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "मिथक का मौलिक स्वरूप सिर्फ भारतीय पुराकथाओं में ही प्रकट होता है और वह पश्चिमी सभ्यता के लिए उसके खोए हुए मर्म की वापिसी है। अन्यत्र कहीं भी हम मनुष्य की संस्कृति को उसके मूल उद्‌गम पर ही इस तरह प्रकट होते नहीं देख सकते जिस तरह हम उसे भारतीय पुराकथाओं में अनुभव करते हैं।"

हाइनरिख़ त्सिमर की बातें हमारी तर्क-बुद्धि को आश्वस्त करें, न करें, उनमें एक विचारोत्तेजक दृष्टिकोण अवश्य झलकता है। इस विचारक को संभवत: एलियट की तरह भारतीय पुराकथायों में डूबकर अपनी यूरोपीय अस्मिता खो देने का भय नहीं सताता। उसका यह दृष्टिकोण सर्वाधिक स्पष्ट रूप में उसकी **दि किंग एण्ड दि कौप्स** नामक पुस्तक में व्यक्त हुआ है। उसी के शब्दों में—" 'मिथॉस' एक यूनानी शब्द है और जब भी इसका ज़िक्र होता है हमें यूनानी मिथकों का ही मुख्यत: ध्यान आता है—अर्थात् वे मिथक जो होमर, हेसियोद और त्रासदी नाटककारों के ज़रिए हम तक पहुँचे हैं। किन्तु सृजनात्मक कल्पना से छनकर निकलने के कारण ये चीज़ें यूनानी इतिहास की विशिष्ट, वैयक्तिक और तत्कालीन समस्याओं की अभिव्यक्ति बन गई हैं। हमें उनके प्राचीनतर मूल रूपों का पता नहीं चल पाता। लोक-परंपरा के महाप्रवाह में जिस तरह ये कथाएँ रही होंगी उस तरह हम इन्हें नहीं देख सकते।"

अभी ऊपर हमने कुँवरनारायण की जो टिप्पणी उद्‌धृत की थी उसकी बग़ल में यह टिप्पणी क्या रोचक नहीं लगती? त्सिमर पाता है कि "वे आदिम पुराण-रूप अपनी मूल प्रकृति में भारत की पौराणिक कथा-परंपरा में अक्षुण्ण बचे रह गये हैं। भारत में ये उस तरह काव्य-बिम्बों में रूपान्तरित नहीं हो पाए। उनमें एक अनाम निर्वैयक्तिक प्राणवत्ता है। किसी एक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की आवाज़ में वे नहीं ढले हैं। उनके पीछे एक सचमुच का विराट् लोक-मन है—एक सर्वमान्य लोकव्यापी सच्चाई। श्रोता और वाचक के सम्बन्ध की वही सहस्राब्दियों पुरानी जीवन्तता इनमें आज भी धड़क रही है।"

इस प्रकार कुल मिलाकर हाइनरिख़ त्सिमर की खोजें भी हमें लगभग उसी प्रतीति तक पहुँचाती हैं जिसे हमने युंग के यहाँ परिलक्षित किया था। यह अकारण नहीं कि युंग

की ही तरह त्सिमर के लिए भी मिथक वह कड़ी है जो मनुष्य को प्रकृति से ही नहीं, पुरुषोत्तम से भी, यानि अतिप्राकृत से, जोड़ती है। एक और भी विचारोत्तेजक स्थापना उसकी यह है कि "पश्चिमी आलोचनात्मक चिन्तन के उदय के साथ ही पश्चिमी मानव का उन दैवी शक्तियों के साथ का सम्बन्ध-सूत्र छिन्न-भिन्न हो गया।" किन्तु आज पुराण का एक प्राचीनतर स्तर, जो अपने गर्भ में सनातन सत्य को सहेजे हुए है—वह सत्य, जिसको लगभग दो हज़ार वर्षों से परवर्ती धार्मिक मतवादों ने ढँक और विकृत कर रखा था—वह अचानक प्रकट हो आया है और हमारे कानों को एक गहरी मर्म-कथा सुनाने को उत्कंठित प्रतीत होता है। एक खोई हुई निधि की यह वापिसी मानो एक विश्वस्तरीय क्षतिपूर्ति है उस पुराण की ही ग्लानि की जो ऐन इस वक्त भारत तथा दूसरे प्राचीन संस्कृति वाले देशों में आधुनिक प्रौद्योगिकी के आघात से उत्पन्न हो रही है। विकास की जिस मंज़िल पर हम आज पहुँच चुके हैं वह इतने दूरगामी और व्यापक परिणाम वाली है कि इस लोमहर्षक शताब्दी की प्रचण्ड शक्ति को झेलने के लिए इसकी परिवर्तनकारी अग्नि को वहन करने के लिए; हमें हर संभव प्राचीन परम्परा के पौराणिक कथ्य को बहुत गहरे जाकर आत्मसात् करना होगा।

३/२, प्रोफेसर्ज़ कोलोनी,
भोपाल-४६२००२

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक २
जुलाई १९८८

4

करुणा : हमारे सांस्कृतिक प्रकर्ष का एक प्रतीक

हर्षनारायण

जड प्रकृति का प्रकर्ष चेतन प्रकृति में प्राप्त होता है, चेतन प्रकृति का मानव-प्रकृति में, और मानव-प्रकृति का संस्कृति में। संस्कृति का अर्थ है मानव की गति-प्रगति हिंसा से अहिंसा की ओर, स्व से पर की ओर, करुणा से महाकरुणा की ओर, महाकरुणा से बोधिसत्त्वोचित लोकसंग्रह की ओर, लोकसंग्रह से परिनिष्पन्न आत्मौपम्यदृष्टि की ओर, और अन्ततः आत्मौपम्य से आत्मैक्यदृष्टि की ओर। करुणा नीति-धर्म/आचारशास्त्र का विषय है जबकि महाकरुणा से लेकर आत्मैक्यदृष्टि तक के सोपान मोक्षधर्म के विषय हैं। डार्विन ने संघर्ष-सत्य का साक्षात्कार किया, क्रोपाटकिन ने सहयोग-सत्य का और भारतीय मनीषा ने करुणा, महाकरुणा, लोकसंग्रह, आत्मौपम्य, और आत्मैक्य सत्यों का। इस संपूर्ण प्रक्रिया को हम नीचे तालिकाबद्ध करते हैं—

आत्मैक्यदृष्टि का उन्मेष

I. नीतिधर्मीय क्रम

1. हिंसा से अहिंसा की ओर
   (1) प्राणिहिंसा से अ-प्राणिहिंसा/व्यापाद की ओर
   (2) द्रोह से अद्रोह की ओर
   (3) संघर्ष से सहयोग की ओर
   (4) असहिष्णुता से सहिष्णुता की ओर
2. स्व से पर की ओर
   (1) स्वार्थपरता से परोपकार की ओर
   (2) उपेक्षा से सहानुभूति की ओर

(3) सहानुभूति से करुणा/अनुकम्पा/दया की ओर

II. **मोक्षधर्मीय क्रम स्व-पर-उत्तीर्ण परमार्थ की ओर**

1. करुणा से महाकरुणा की ओर
2. महाकरुणा से बोधिसत्त्वोचित लोकसंग्रह की ओर
3. लोकसंग्रह से परिनिष्पन्न आत्मौपम्यदृष्टि की ओर
4. आत्मौपम्यदृष्टि से परिनिष्पन्न आत्मैक्यदृष्टि की ओर, सर्वात्मदृष्टि की ओर

भारतीय संस्कृति में मानवोत्कर्ष की सभी भूमियों को यथोचित स्थान प्राप्त प्रतीत होता है। भागवत धर्म और श्रमण धर्मों (सांख्य, जैन और बौद्ध) का अहिंसावाद सर्वविदित ही है। **मनुस्मृति** और **योगसूत्र** में अहिंसा को यमों की सूची में प्रथम स्थान प्राप्त है। **महाभारत** में तो यहाँ तक कहा गया है कि अहिंसा से बड़ा कोई धर्म ही नहीं (शान्तिपर्व 262.30)

न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चनः कि धर्म का प्रवर्तन ही अहिंसा के लिए किया गया है, और कि जो अहिंसा से जुड़ा हुआ है वही धर्म है (तत्रैव 109.12)—

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

इसी प्रकार शास्त्रों में अद्रोह और अद्वेष, सहिष्णुता और सहानुभूति, प्रेम और मैत्री पर भी पर्याप्त बल दिया गया है। सांख्य और भागवत धर्म करुणा पर विशेष बल देते हैं, किन्तु महाकरुणा का पूर्ण उन्मेष बौद्ध धर्म में पाया जाता है। **गीता** और महायान बौद्ध धर्म में लोकसंग्रह और आत्मौपम्यदृष्टि की भी प्रधानता पायी जाती है। किन्तु आत्मैक्यदृष्टि का पूर्णचन्द्र वेद की कतिपय ऋचाओं, आरण्यकों, उपनिषदों, **गीता** तथा परवर्ती वेदान्त-परम्परा में उदित होता है।

हम समझते हैं कि सांस्कृतिक-नैतिक-आध्यात्मिक प्रगति की जिन भूमियों की हम चर्चा कर रहे हैं उनका सार **गीता** (12-13) के इस श्लोक में बहुत कुछ आ गया है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च
निर्ममो, निरहंकारः समदुःख सुखः, क्षमी ।।

अर्थ स्पष्ट है। यहां योगी, सिद्ध, अथवा आदर्श पुरुष को अद्वेष्टा, मैत्री-भावापन्न, करुणाप्रवण, अहङ्कारशून्य-ममकारशून्य, दुःख और सुख में सम भाव रखने वाला, और क्षमाशील घोषित किया गया है।

करुणा परोन्मुख होती है, अन्यों के हित में प्रवृत्त होती है। अन्यों के दुःख का निवारण ही उसकी कृतकृत्यता है। परदुःखकातर कारुणिक कभी-कभी अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी दूसरों के दुःख के प्रतिकार में प्रवृत्त होता है। वह ऐसा क्यों करता है ? दूसरों की दुःख-निवृत्ति के आगे अपना जीवन इतना सस्ता क्यों समझता है ? इसका उत्तर भारतीय संस्कृति ही दे सकती है। यद्यपि जैसा आगे प्रकट होगा, उत्तरदाता कभी-कभी अनपेक्षित समस्याएँ खड़ी कर देते हैं।

अस्तु, करुणा और परदुःखकातरता का हेतु क्या है ? पश्चिमी दार्शनिक हॉब्स और हेल्वेशियस का उत्तर है कि दूसरों का दुःख हमें भी दुःखी कर देता है, और हम अपने पर-

दुःखजनित दुःख के निवारण में प्रवृत्त अथवा कृतसङ्कल्प होते हैं। हॉब्स के अनुसार इसे ही करुणा की स्थिति कहा जाता है। कहते हैं कि एक बार अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति इब्राहीम लिंकन ने कीचड़ में प्रविष्ट हो कर उसमें फँसे हुए एक शूकर-शावक के प्राण बचाये थे। पूछे जाने पर उनका उत्तर था कि उन्होंने उसकी पीड़ा से उत्पन्न अपनी पीड़ा के शमन के लिए ऐसा किया था। इस प्रकार के उत्तर से करुणा आपाततः स्वार्थमूलक सिद्ध होती है। कतिपय भारतीय दार्शनिक भी इस मत के पोषक पाये जाते हैं। आइए, देखें :

घोर निवृत्तिवादी मूल जैन-परम्परा का सारा आग्रह अहिंसा पर है। वह करुणा को सावद्य, सदोष, और मुनिधर्म के विरुद्ध मानती है। राग आदि की अनुत्पत्ति ही अहिंसा है, और उनकी उत्पत्ति हिंसा, यह अमृतचन्द्र (**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 44**) का वचन है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।

अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का वचन है कि प्राणी मात्र के प्रति जो संयम है वही पूर्ण अहिंसा है (**दशवैकालिक 6.9**)—

अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो

अतः करुणाजनित अहिंसा ही अहिंसा है ऐसा जैनों को मान्य नहीं है। जैनों द्वारा मान्य अहिंसा संयमजनित अहिंसा है। जैन धर्म-दर्शन अहिंसा का विधान करुणा की भावना से ओतप्रोत हो कर नहीं, बल्कि संसार से पवित्र रहने की (स्वार्थ-मयी) भावना से भावित होकर करता है।

समयसुन्दरोपाध्याय (**विशेषशतक**) ने प्रश्न उठाया है कि प्यासे को जल पिलाने से महान उपकार होता है, और जल का मूल स्रोत है कूप, तडाग आदि, तो क्या साधु को उनकी खुदाई का उपदेश करना चाहिए ? और उत्तर दिया है कि न तो उपदेश करना चाहिए और न निषेध, क्योंकि दोनों सदोष हैं।

अतः जैनों की अहिंसा जीवों के प्रति करुणा-भाव की उपेक्षा करते हुए अपने लाभ के लिए प्रवृत्त होती है। यही कारण है कि उनकी अहिंसा अ-प्राणिहिंसा से आगे बढ़ कर प्राणि-सेवा तक नहीं पहुँचती। अल्बर्ट श्वेजर ने यह आरोप पूरी भारतीय परम्परा पर लगाया है। उसका यह कहना सही है कि अहिंसा स्वतंत्र न होकर करुणा की अनुयायिनी होनी चाहिए तभी वह आचारशास्त्र की ठोस आधारशिला पर प्रतिष्ठित हो सकती है। किन्तु भागवत और बौद्ध परम्पराओं में वह करुणा से अवश्य जुड़ी है और बड़ी गहराई से। बाद में जैनों ने भी दया और करुणा का महत्त्व स्वीकार कर लिया, मोक्षोपाय के रूप में भी।

शङ्कराचार्य का मत है कि लोग स्वार्थवश ही परार्थ में प्रवृत्त होते हैं (स्वार्थप्रयुक्त एव हि सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तते) **शारीरक भाष्य 2,2,37**)। इस उक्ति की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि कारुणिक भी स्वार्थवश ही कर्म में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि अन्यों के दुःख से उन्हें जो दुःख होता है उसी के निवारणार्थ वे प्रवृत्त होते हैं (कारुण्ये हि सत्यस्य दुःखं भवति, तेन तत्प्रहाणाय प्रवर्तते, इति कारुणिका अपि स्वार्थप्रयुक्ता एव

प्रवर्तन्ते) (**भामती**, तत्रैव) । शङ्कर के अन्य व्याख्याकारों का भी यही मत है । किन्तु बटलर जैसा पाश्चात्य दार्शनिक इस मत का खण्डन करते हुए लिखता है कि करुणा के तीन घटक हैं :

1. सद्यः उपस्थित अथवा सम्भावित दुःख से मुक्ति का ध्यान करके सूक्ष्म सन्तोष की अनुभूति,
2. उक्त दुःख की भविष्य में उत्पत्ति की सम्भावना से भीति, और
3. वास्तविक समवेदना अथवा सहानुभूति ।

करुणा की इस व्याख्या में पर्याप्त बल प्रतीत होता है, और हम अभी देखेंगे कि वह मूल भारतीय दृष्टिभंगी की पूर्वपीठिका के रूप में सर्वथा ग्राह्य है ।

अच्छा, करुणा के तृतीय घटक—वास्तविक समवेदना—का मूल क्या है ? हमारी सुचिन्तित धारणा है कि यहाँ भारतीय आत्मौपम्य-दृष्टि, आत्मैक्य-दृष्टि, तथा सर्वात्म-दृष्टि का आश्रय लेने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है ।

कारुणिक में अचेतन भाव उठता है कि दुःख भोगने वाला मेरे ही समान है, मेरा ही आत्मा है, मैं ही हूँ । वह उसमें अपने ही को देखने लगता है, दुःखी का दुःख उसका दुःख हो जाता है । इसी दशा को हम करुणा की दशा कहते हैं । इस प्रकार विचार करने पर करुणा में स्वार्थ और परार्थ का भेद मिट जाता है । (**बृहदारण्यकोपनिषद्** 4,2,5) याज्ञवल्क्य कहते हैं—न वा अरे ! सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस् तु कामाय सर्वं प्रियं भवति —अर्थात् सब कुछ आत्मा अथवा 'स्व' के लिए ही प्रिय होता है । और जब सारी अन्य आत्माएँ, सारे 'पर', अपनी ही आत्मा, अपना ही 'स्व' हैं, तो स्थार्थ और परार्थ का भेद कैसा ? अवश्य ही इस सत्य का साक्षात्कार प्रायः करुणा जैसी मार्मिक स्थिति में ही सम्भव होता है ।

भारतीय जीवन-दृष्टि का मर्मज्ञ पॉल डायसन लिखता है कि ईसा मसीह ने जो कहा है कि अपने पड़ोसी को अपनी आत्मा के समान प्रेम करो, उसकी मीमांसा बाइबिल में नहीं, उपनिषद् अथवा वेदान्त में मिलती है । वेदान्ती कहेगा कि अपने पड़ोसी को अपनी आत्मा के समान इसलिए प्रेम करो क्योंकि वह तुम्हारा ही आत्मा है ।

आत्मौपम्यदृष्टि और आत्मैक्यदृष्टि और करुणा से उनके सम्बन्ध की स्वीकृति किसी सीमा तक यथोक्त अनात्मवादी बौद्ध धर्म-दर्शन की महायान शाखा में भी देखने को मिलती है । अतएव शान्तिदेव **बोधिचर्यावतार** (8.95) में बोधिसत्त्व के आदर्श का प्रतिपादन करते हुए उससे कहलाते हैं—

यदा मम परेषां च तुल्यमेव सुखं प्रियम्,
तदाऽऽत्मनः को विशेषो येनात्रैव सुखोद्यमः ?।।

अर्थात् सुख जैसे मुझे प्यारा है वैसे अन्यों को भी । तो मुझ में कौनसी विशेष बात है कि मैं उन्हें छोड़ केवल अपने सुख के लिए उद्यम करूँ ? इसी प्रकार वे **शिक्षासमुच्चय** (1) में लिखते हैं—

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्,
तदाऽऽत्मनः को विशेषो यत् तं रक्षामि नेतरम् ?।।

अर्थात् भय और दुःख जैसे मुझे अप्रिय हैं वैसे अन्यों को भी । तो मुझ में कौनसी विशेष बात है कि मैं अपनी रक्षा करूँ, अन्य की नहीं ? शान्तिदेव का मत है कि जैसे अपने शरीर में अभ्यास द्वारा आत्मबुद्धि उत्पन्न होती है वैसे अन्यों में भी उत्पन्न की जा सकती है (**बोधिचर्यावतार** 8.115)—

यथात्मबुद्धिरभ्यासात् स्वकायेऽस्मिन् निरात्मके,
परेष्वपि तथात्मत्व किमभ्यासान् न जायते ?।।

यहां **गीता** (6.32) का आत्मौपम्यपरक श्लोक स्मरणीय है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।

अर्थात् आत्मौपम्यदृष्टि से सम्पन्न योगी सबको अपने जैसा, अपना आपा, समझता है ।

नागार्जुन ने अपने **चतुःस्तव** (3.40) में बुद्धों और जीवों की तात्त्विक अभिन्नता का आधार लेकर जीवों में समता-भाव का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—

बुद्धानां सत्त्वधातोश् च येनाभिन्नत्वमर्थतः
आत्मनश् च परेषां च समता तेन ते मता ।।

महायान बौद्ध धर्म में बोधिसत्त्व की करुणा की जो चर्चा आती है वह बेजोड़ है । बोधिसत्त्व का व्रत है कि जब तक आकाश और जगत् की स्थिति है तब तक मैं प्राणियों के दुःख के शमन में व्यापृत रहूँ । **बोधिचर्यावतार** (10·55)—

आकाशस्य स्थितिर् यावद् यावच् च जगतः स्थितिः
तावन् मम स्थितिर् भूयाज् जगदुःखानि निघ्नतः ।।

वह सम्पूर्ण जगत् का दुःख अपने ऊपर लेने और अपनी समस्त पुण्यराशि से जगत् को सुखी करने की कामना करता है (तत्रैव 10.56)—

यत्किञ्चिज्जगतो दुःखं तत् सर्वं मयि पच्यताम् ।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर् जगत् सुखितमस्तु च। ।।

वह अपने द्वारा अर्जित समस्त पुण्यसम्भार दान करके संसार को सुखी देखना चाहता है (तत्रैव 3.6)—

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन् मयाऽसादितं शुभम्
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ।।

वस्तुतः बोधिसत्त्व को निर्वाण भी नहीं चाहिए, जब तक सबको निर्वाण न प्राप्त हो जाय (नापरिवृतैः सर्वसत्त्वैः परिनिर्वास्यामि) **लङ्कावतारसूत्र** पृ. 28 । वह घोषणा करता है कि आनन्द के जो सागर अन्यों को मुक्त कराने में उमड़ते हैं उन के आगे नीरस मोक्ष में क्या रखा है (**बोधिचर्यावतार** 8.108) —

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः
तेनैव ननु पर्याप्तं, मोक्षेणारसिकेन किम् ?

राजा औशीनर शिवि का इसी स्वर में कहा गया एक वचन है—

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं, नापुनर्भवम्,
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम् । ।।[3]

अर्थात् 'मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग, और न मोक्ष । मैं दुःख से तप्त प्राणियों के दुःख का नाश चाहता हूँ ।' **श्रीमद्भागवत** (9.21.12) में रन्तिदेव की भी घोषणा है—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिंप्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो, येन भवन्त्यदुःखाः ।।

अर्थात् 'मैं ईश्वर से अष्ट-ऋद्धियुक्त परम गति नहीं माँगता, और न मोक्ष ही की कामना करता हूँ । मैं बस यह चाहता हूँ कि सभी प्राणियों के हृदय में स्थित होकर उनका सारा दुःख अपने ऊपर ले लूँ, ताकि वे सब दुःख से मुक्त हो जाँय ।' **मार्कण्डेयपुराण** (15.56) में राजा विपश्चित् का भी वक्तव्य है कि जो सुख सन्तप्त प्राणियों को सन्ताप से मुक्त करने में प्राप्त होता है वह न तो स्वर्ग में उपलब्ध हो सकता है और न ब्रह्मलोक में—

न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत् सुखं प्राप्यते नरैः
यदार्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थमिति मे मतिः ।।

फिर वह घोषित करता है कि वह तब तक नरक में ही निवास करेगा जब तक सभी नरकवासी उससे मुक्त न हो जायें (तत्रैव 15.59)—

तस्मान् न तावद् यास्यामि यावदेते सुदुःखिताः।
मत्सन्निधानात् सुखिनो भवन्ति नरकौकसः। ।।

वस्तुतः इतिहास-पुराण में कारुण्यवृत्ति के अनेक उदाहरण पाये जाते है । राजा दिलीप गाय की रक्षार्थ अपनी बलि देने पर उद्यत हो जाते हैं । राजा शिवि शरणागत कपोत की रक्षार्थ अपने शरीर का मांस श्येन पक्षी को प्रदान करते हैं । ऋषि दधीचि अपनी हड्डियाँ लोकहितार्थ देवताओं को दान करते हैं । **कथासरित्सागर** और **नागानन्द** नाटक के अनुसार जीमूतवाहन सर्पों की रक्षार्थ अपना शरीर गरुड को अर्पित करते हैं ।

करुणा अधिक व्यापक और अधिक गहन होकर महाकरुणा हो जाती है । करुणा प्रायः व्यक्तिपरक होती है, किन्तु महाकरुणा प्राणिमात्र के प्रति उदित होती है । बोधिसत्त्वों और बुद्धों की महाकरुणा सम्पूर्ण जगत् के त्राण के लिए प्रवृत्त होती है । कहते हैं कि ईसा

---

1. पं. मदनमोहन मालवीय द्वारा संगृहीत श्लोकावली के अनुसार यह श्लोक महाभारत के श्येनकपोतोपाख्यान का है, यद्यपि यह महाभारत के वर्तमान संस्करणों में मुझे देखने को नहीं मिला । यह संग्रह मुझे स्व. पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भेजा था । इसमें अनुशासन-पर्व, अध्याय 50-51 के अन्तर्गत इसी से मिलता-जुलता च्यवन का एक श्लोक है—

को नु स स्यादुपायोऽत्र येनाहं दुःखितात्मनाम्
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा ।।

अर्थात् वह कौन-सा उपाय है जिससे मैं दुःखी जीवों के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर दुःख-भाजन बनूँ ? यह श्लोक भी प्रवर्तमान संस्करणों में नहीं मिला । द्विवेदीजी ने मालवीयजी के पास कलकत्ता-संस्करण देखा था । मैं देख नहीं पाया । सम्भव है कि ये श्लोक वहाँ मिल जायें । प्रयत्न कर रहा हूँ ।

मसीह ने आदि-मानवयुगल आदम और हव्वा के पाप के भागी मानवमात्र की मुक्ति के लिए अपने प्राण दिये थे। इस प्रकार करुणा और महाकरुणा में किंचित् भेद का अवकाश है। हम कह सकते हैं कि, यदि करुणा मानव की आध्यात्मिक प्रगति की काष्ठा है तो महाकरुणा पराकाष्ठा। दोनों में प्रकारभेद न होकर केवल क्षेत्रभेद है। यही कारण है कि बौद्ध धर्म-दर्शन में बहुधा महाकरुणा के स्थान पर भी करुणा शब्द के प्रयोग का चलन है।

अस्तु, महाकरुणा और उसकी पर्यायभूत करुणा पर जितना व्यापक और गहन चिन्तन बौद्ध परम्परा में प्राप्त होता है उतना संसार की किसी अन्य परम्परा में नहीं दिखायी देता, मसीही इन्जील और अस्तित्ववादी चिन्ताधारा में भी नहीं। बुद्ध के अन्तःकरण में व्यक्तियों का दुःख-दर्द अस्तित्व मात्र का दुःख-दर्द बन जाता था, अतः उनकी करुणा इने-गिने दुःखी प्राणियों तक सीमित नहीं थी, बल्कि उन्हें अतिक्रान्त करके सम्पूर्ण जगत् को अपने क्रोड में ले लेती थी। बुद्ध की करुणा महाकरुणा, विश्वकरुणा, थी।

बुद्ध-वचनों में दुःख के तीन रूप दिखायी देते हैं (दीर्घनिकाय 3.10, पृ. 171)—

1. दुःख-दुःखता, अर्थात् साक्षात् शारीरिक और मानसिक दुःख
2. विपरिणाम-दुःखता, अर्थात् सुख के दुःख में बदल जाने अथवा सुख के नाश से उत्पन्न दुःख, और
3. संस्कार-दुःखता, अर्थात् संसार की नश्वरता का दुःख

स्थिरमति (मध्यान्तविभागभाष्य-टीका 3.6) एक अन्य प्रकार से दुःख के नाना भेद करता है, बुद्धोक्त त्रिविध दुःख को समेटते हुए—

1. उपादान दुःख, अर्थात् वस्तुओं को यथार्थ मानने का दुःख,
2. लक्षण-दुःख, अर्थात् बुद्धोक्त तीन प्रकार के दुःख, और
3. सम्बन्ध-दुःख, अर्थात् अन्य प्रकार के दुःखों से सम्बद्ध होने का दुःख

बौद्ध धर्म में अन्यत्र सुख को भी अन्तिम विश्लेषण में दुःख ही माना गया है। प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर सुख की गणना इक्कीस प्रकार के दुःखों में करता है। सांख्य-योग परम्परा में भी 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' कहा गया है, अर्थात् ज्ञानी के लिए सब-कुछ दुःख ही है। इस दृष्टिभंगी के अन्तर्गत करुणा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक, बल्कि सार्वभौम, हो जाता है।

बौद्ध परम्परा में सिद्ध पुरुषों की तीन कोटियाँ हैं—श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और सम्यक्-सम्बुद्ध। वैयक्तिक दुःख का नाश करके वैयक्तिक निर्वाण सिद्ध करने वाला श्रावक अर्हत् बनता है। उसमें पहले करुणा उत्पन्न होती है, अर्थात् वह सामान्य करुणा जो व्यक्तियों का दुःख देख कर उत्पन्न होती है। महायानी आचार्यों का आरोप है कि तीव्र करुणा के अभाव में अर्हत् संसार से त्रस्त रहता है। महाकरुणा की दशा में तो वह बड़े से बड़े दुःख प्रसन्नता पूर्वक झेलने के लिए तैयार रहता है, संसार से संत्रास का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येकबुद्ध की करुणा भी सत्त्वावलम्बना होती है, बस उसे श्रावक के समान उपदेश ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं होती। सम्यक्सम्बुद्ध अनन्त करुणा, महाकरुणा, से प्रेरित होते हैं और अपना समस्त ज्ञान-

पुण्य-सम्भार लोककल्याणार्थ संचित करते हैं। उनकी करुणा अर्थात् महाकरुणा सत्त्वावलम्बना न होकर वस्तुधर्मा होती है, तात्त्विक अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न होती है।

महायान में **आर्यसंगीतिसूत्र** के अनुसार बोधिसत्त्व को ढेरों धर्मों में शिक्षित होना आवश्यक नहीं है, वह यदि केवल महाकरुणा सिद्ध करले तो उसे सारे बुद्ध-धर्म हस्तगत हो जायेंगे। जैसे किसी चक्रवर्ती राजा का रथ जिस-जिस ओर घूमता है उस-उस ओर उसकी सेना भी घूम जाती है, वैसे ही जिस ओर बोधिसत्त्व की करुणा जाती है उसी ओर सभी बुद्ध-धर्म भी जाते हैं। जैसे सूर्योदय-वेला में सभी प्राणी अपने क्रियाकलाप में प्रवृत्त हो जाते हैं वैसे ही महाकरुणा के उदय होने पर बोधि के साधनभूत अन्य धर्म भी सक्रिय हो उठते हैं। जैसे मन द्वारा अधिष्ठित सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में प्रवृत्त हो जाती हैं वैसे ही महाकरुणा से अधिष्ठित होकर बोधि के उत्पादक सभी धर्म अपने-अपने क्षेत्र में क्रियाशील हो जाते हैं। जैसे प्राण इन्द्रियों का प्रवर्तक है वैसे ही महाकरुणा बोधि के साधनभूत अन्य धर्मों का प्रवर्तन करती है।

इसी प्रकार **आर्यक्षयमतिसूत्र** में कहा गया है कि जैसे श्वास-प्रश्वास जीवितेन्द्रिय के अग्रेसर (आगे-आगे चलने वाले) होते हैं, वैसे ही महाकरुणा बोधिसत्त्व की अग्रेसर होती है।

वस्तुतः करुणा के सम्बन्ध में इतना सूक्ष्म, गहन, और गम्भीर चिन्तन भारतीय संस्कृति में ही सम्भव था।

42/59 रामरत्न वाजपेयी मार्ग
लाला उमरावसिंह पार्क
नरही,
लखनऊ–226001

उन्मीलन-गोष्ठी की कार्यवाही

तत्त्वमीमांसा और शल्य जी
एक टिप्पणी

दार्शनिक समाज में तत्त्वमीमांसा अथवा मैटाफ़िज़िक्स की आज क्या स्थिति है इस प्रश्न का उत्तर बहुत स्पष्ट नहीं लगता। यह बात दर्शन के व्यापकतम क्षेत्र में ग्रहण करनी चाहिए। एक ओर विट्गेन्स्टाइन की कृतियाँ बराबर प्रकाश में आ रही हैं तथा उसके प्रभाव में दार्शनिक चिन्तन भी हो रहा है : यह सर्वविदित है कि विट्गेन्स्टाइन के लिए या तो तत्त्वमीमांसा के प्रश्न प्रश्नाभास थे या फिर भाषा के जादू का परिणाम। दूसरी ओर **मैटाफ़िज़िकल थिंकिंग, मैटाफ़िज़िक्स** जैसी पुस्तकों का प्रकाशन (यदि समस्यामूलक पुस्तकों को लें तो ऐसी पुस्तकों की संख्या काफ़ी बड़ी होगी) तथा **इंडिविजुअलस** में मैटाफ़िज़िक्स की एक ताज़ी अवधारणा इस बात का संकेत करते हैं कि ऐसा समझना भ्राँत होगा कि तत्त्वमीमांसा अब इतिहास की वस्तु हो गई है। परन्तु दोनों ही पक्षों में जैसे अब यह सवाल नहीं रह गया है कि तत्त्वमीमांसा संभव है या नहीं। हमारे देश में भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। या तो विचारकों के सामने ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं है, फलतः उनका चिन्तन, विश्लेषण इस प्रश्न तथा इस पर बहस के सन्दर्भ से पूर्णतया अछूता है, या फिर कुछ दार्शनिकों ने ऐसा साधारण तथा सर्वमान्य तथ्य मान लिया है कि दार्शनिक प्रश्न तत्त्व के विषय में तो उठाए ही नहीं जा सकते।

इधर हाल में **उन्मीलन** (जयपुर) में तत्त्वमीमांसा पर कुछ लेख प्रकाशित हुए हैं जिनसे लगता है कि तत्त्वमीमांसा की सार्थकता का प्रश्न पुनः विचार का विषय हो सकता है। **उन्मीलन** के जनवरी 1988 के अंक में शल्य जी का लेख "तत्त्वमीमांसा और उसका औचित्य" इसी ओर संकेत करता लगता है। यदि हमारी रुचि सार्थकता या निरर्थकता में न भी हो तब भी शल्यजी का लेख इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उसमें एक भारतीय चिन्तक ने गहन तथा गंभीर विचार के आधार पर तत्त्वमीमांसा की एक आकर्षक संल्पना प्रस्तुत की है।

शल्य जी पूर्वपक्ष के प्रति सहिष्णु प्रतीत नहीं होते, इसीलिए शायद उन्होंने उसे सरसरी तरह से छुट्टी दे डाली है। चाहता तो था कि इस बिषय में उनका ध्यान आकर्षित करने के

लिए कुछ बातें यहाँ कही जातीं पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रक्रिया में उलझने पर उनका जो सकारात्मक योगदान है उसकी बात पीछे छूट जायेगी। क्योंकि वह अधिक महत्त्वपूर्ण है इसलिये उसके विषय में विचार करना कदाचित् अधिक सार्थक होगा।

शल्य जी की दृष्टि में, जैसा मुझे प्रतीत होता है, तत्त्वमीमांसा का स्वरूप मूलतः आत्मा के स्वरूप पर आश्रित है। तत्त्वमीमांसा की सार्थकता एवं औचित्य इस बात पर आधारित हैं कि आत्म तत्त्व के विषय में हमारी क्या अवधारणा है तथा उसे जानने के विषय में क्या कहा जा सकता है। शल्य जी के विश्लेषण से दो बातों का पता चलता है। एक ओर उनका यह दिखाने का प्रयास है कि आत्मेतर जो भी कुछ है उसकी समझ आत्मतत्त्व की समझ से गहन रूप से सम्बद्ध है, दूसरी ओर वे यह भी प्रदर्शित करना चाहते हैं कि आत्मतत्त्व, जो मूल तथा आधारभूत है, अपनी व्याख्या एवं औचित्य स्वयं प्रस्तुत करता है। पाठक को इस ओर लाने के लिए उन्हें उसका ध्यान इस बात से हटाना ज़रूरी लगता है कि साधारण इन्द्रियपरक अथवा पॉज़िटिव ज्ञान वस्तु या आत्म के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकता है—पश्चिम के पॉज़िटिविस्ट तथा अपनी परम्परा में चार्वाक आदि इसी दिशा के पोषक हैं, फलतः वे शल्य जी की आलोचना के विषय बनते हैं।

हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि वे उपर्युक्त दो मांगों की पूर्ति किस प्रकार करते हैं, तथा क्या उनकी प्रस्तुति संगत है? यद्यपि शल्य जी ने फ़िख़्ते का कहीं उल्लेख नहीं किया परन्तु उनके विचारों पर उसकी छाप स्पष्ट है। परन्तु इस बात से उनकी विचार-योजना का महत्त्व कम नहीं हो जाता, क्योंकि जर्मन-प्रत्ययवादियों से प्रभावित होते हुए भी, न केवल उन्होंने कांट की आलोचना की है अपितु अपनी विचार-योजना में कुछ महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विचारों का समावेश भी किया है।

फ़िख़्ते की भांति वे आत्मतत्त्व को एक कृति के रूप में ग्रहण करते हैं तथा उसे 'आद्य संकल्प की सृष्टि' (पृ. 26) कहते हैं। यह 'आद्य संकल्प' आत्म तत्त्व के बाहर कुछ नहीं है। इस विचार की कठिनाइयाँ सर्वविदित हैं, तथा जहाँ भी यह विकल्प अपनाया गया है वहां उसे एक आधारभूत मान्यता के रूप में ही स्वीकारा गया है। 'कृति' की अवधारणा से अनेक दूसरी अवधारणाओं का सम्बन्ध है जिसका स्पष्टीकरण शल्य जी के विश्लेषण की विशेषता है। 'क्रियान्वयन', 'साक्षात्कार', 'अभाव/अपर्याप्तता/न्यूनता', 'अस्तित्व', 'सत्त्व' आदि अवधारणाएँ 'कृति' रूप में 'आत्म-तत्त्व' से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। आत्मक्रियान्वयन के व्यापार का सहज रूप स्वयं अपने अभाव का निराकरण तथा अपनी अपर्याप्तता से मुक्ति का उपक्रम है। पूर्ति, अथवा अभाव—निराकरण की दिशा स्वयं आत्म-तत्त्व के स्वरूप से प्राप्त होती है और वही वस्तुतः समस्त अन्य कृत्यों एवं विषयों में देखी जा सकती है। वस्तु का स्वरूप, उसकी चरितार्थता, उसका ज्ञान ऐसी संभावनाओं से दिशा प्राप्त करते हैं जो अन्ततः आत्मा में अन्तर्भूत हैं।

यहां शल्य जी ने अवर आत्मा तथा वर आत्मा, अहंकार एवं अहंकार-शून्य आत्मा के महत्त्वपूर्ण भेद की ओर संकेत किया है। उन संभावनाओं को जो विषय/वस्तु का सार्थक तथा सच्चा रूप उद्घाटित कर सकती हैं, जो स्वयं आत्म-क्रियान्वयन को मूल्य से आवेष्टित करती

हैं, वे अहंकार-युक्त अथवा अवर आत्मा से सम्बद्ध नहीं होतीं, अपितु आत्म-तत्त्व के दूसरे रूप से सम्बद्ध होती हैं ।

वस्तु-ज्ञान अथवा वस्तु-स्वरूप-उद्घाटन, अथवा मानवीय कृति-रूप में वस्तु-निर्माण ये सब आत्मान्तर्भूत संभावनाओं से निर्दिष्ट होने के कारण अपने होने, तथा उचित अथवा उत्कृष्ट होने में एक ही मूल से मूल्यांकन के विषय हो जाते हैं । समस्त मानवीय ज्ञान एवं कर्म-व्यापार एक ही क्षेत्र के अन्तर्गत समाधेय हो जाता है ।

अपने लेख के आरम्भ में ही पॉज़िटिविस्ट की आलोचना करते हुए शल्य जी कला तथा कर्म के मूल्यांकन के सन्दर्भ में ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न ज्ञान-स्रोतों की ओर संकेत करते हैं एवं तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र के लिए इन्हीं स्रोतों को विशिष्ट मानते हुए अन्ततः आत्म-क्रियान्वयन, आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया तथा उसमें सन्निहित कृति सम्बन्धी घटकों के आधार पर ज्ञानात्मक ताना-बाना बनाते हैं ।

होना, नहीं होना, इसका आधार, अथवा इसका मानक भी, 'कृति' की अवधारणा से जोड़ा गया है । साधारण प्रत्यक्षगत विषयों में अथवा वस्तुओं में, तथा आत्मा के अवर रूप में, उनकी अपर्याप्तता, न्यूनता, अभाव, अपूर्णता उनकी स्थिति की विशिष्ट परिचायक हैं । फलतः अपने स्वरूप की दृष्टि से वे वास्तविक तथा अस्तित्वमान् तो हैं परन्तु सत्त्वयुक्त नहीं हैं । इसके विपरीत पूर्णता अथवा स्वरूपगतता कालातीत सत् है, उसका अस्तित्व नहीं होता । (पृ. 23) ऐसा स्वीकार करते हुए भी शल्य जी कांट की यह कह कर आलोचना करते हैं कि उसने ईश्वर की अवधारणा को ऐसी पूर्वापेक्षा के रूप में स्वीकार किया जो किसी अस्तित्वमान् सत्ता का परिचायक नहीं । लेख के अन्त में (पृ. 26) शल्य जी लिखते हैं कि अस्तित्व को केवल संवेद-मूलक मानने के कारण कांट ने यह नहीं देखा कि इस प्रकार स्वयं उसका नाउमिना (परमार्थ), स्वलक्षण वस्तु और जगत् का विधायक विकल्प (केटेगरीज़ ऑफ अंडरस्टेंडिंग) भी अस्तित्व की कोटि में नहीं आते और इस प्रकार उसके अनुसार असत् हो जाते हैं ।" (पृ27) शल्य जी इस समस्या के प्रति उदासीन जान पड़ते हैं कि 'होना' वस्तुतः किस प्रकार सन्तोषजनक रूप में समझा जा सकता । उनकी विचार-योजना में 'होना' को दो स्तरों पर समझा जा सकता है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या 'होना' कई प्रकार का हो सकता है ? अरिस्टौटिल के प्रथम दर्शन [शल्यजी ने लेख के आरंभ में कहा है कि अरस्तु ने सर्वप्रथम 'मेटाफिज़िक्स' पद का प्रयोग किया था । तथ्य यह है कि फ़िज़िक्स पर लिखी पुस्तक के बाद (मेटा) लिखे जाने के कारण अरिस्टौटिल के शिष्यों (कदाचित् पेयोफ्रास्टस) ने इस पुस्तक को मेटाफ़िज़िक्स का शीर्षक दिया] में सभी विद्यमान सत्ताओं के सत् की सामान्य अवधारणा को अन्वीक्षा का विषय बनाया गया है । आधुनिक समय में हाइडैग्गर ने 'सत्ताओं के सत्' को तत्त्वमीमांसा के रूप में देखा है । 'सत्' को कैसे समझें यह तत्त्वमीमांसा की प्रमुख समस्या जान पड़ती है ।

शल्यजी की विचार-योजना में यह जानने का तथा उसके सम्बन्ध में विश्वस्त होने का कोई उपाय नहीं दीखता कि वस्तुतन्त्रता "चित् और सत् की अद्वयता" है, (पृ. 18) । लगता है इन कथनों को समझ लेने पर हम जो प्रश्न उठा रहे हैं वह नहीं उठता । परन्तु यदि

हम शब्दों के सम्मोहन से बच जांय तब स्थिति यह नहीं लगती। वस्तु का अर्थ, तन्त्र तथा प्रतिष्ठा—कह सकते हैं जो कुछ भी वस्तुतः वस्तु का स्वरूप उद्घाटित करता है—हम उसी सीमा में ग्रहण कर पायेंगे जिस सीमा में,

1. हम आत्मोन्मुख होंगे;
2. विषयिनिष्ठता का अतिक्रमण करेंगे;
3. चित् और सत् की अद्वयता होगी।

चाहें तो हम इन सभी शर्तों को 'आत्मोन्मुख निवर्तन' से भी अभिहित कर सकते हैं। (पृ.17)। अब प्रश्न यह है कि यह किस प्रकार तय होगा कि आत्मोन्मुखता, विषयिनिष्ठता का अतिक्रमण तथा अहंकारयुक्त अवर आत्मा से वर आत्मा की ओर संक्रमण की परिचायक अमुक स्थिति है?

वस्तुतः जो शर्तें यहां उल्लिखित हैं, वे ही वे अवस्थाएँ हैं जो किसी विशिष्ट प्राप्य की संभावना के विषय में संकेत देती हैं—इससे अधिक कुछ नहीं। उनके विषय में न तो यह स्पष्ट है कि वे कब प्रयुक्त की जा सकती हैं और न ही वे इस बात की गॉरन्टी हैं कि उनको सन्तुष्ट करने वाली कोई सत्ता या सत्त्व है।

शल्यजी की विचार-योजना में अन्य व्यक्ति, अथवा अन्य आत्मा या पुरुष के अस्तित्व और ज्ञान के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है? अवर आत्मा के स्तर पर पुरुष-बहुत्व को स्वीकारा जा सकता है परन्तु वर आत्मा के स्तर पर भी क्या यह स्वीकार संभव है? जहां तक विषय एवं विषयी के सन्दर्भ में ज्ञान अथवा चरितार्थीकरण का प्रश्न है, वहाँ तो आत्मोन्मुख निवर्तन की शर्त की बात की गई है, परन्तु व्यक्तियों के परस्पर ज्ञान के सन्दर्भ में आत्मोन्मुख निवर्तन का इशारा किस ओर होगा? आरम्भ में "ब्रह्म" को सबका तत्त्व बताया गया है, लेख में आगे इस अवधारणा का कहीं उल्लेख नहीं है। यदि आरम्भिक उल्लेख नितान्त औपचारिक मान लें फिर भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस विचार-योजना में 'आत्मा' के अतिरिक्त किसी ब्रह्म जैसी सत्ता अथवा सत् की क्या स्थिति है तथा उसका आत्मा से क्या सम्बन्ध है?

अन्ततः संक्षेप में यह कहना चाहूंगा कि शल्य जी की विचार-योजना आकर्षक एवं मौलिक सूझ से ओत-प्रोत है, परन्तु तत्त्वमीमांसा की कुछ मूलभूत समस्याओं के विषय में पूर्वपक्ष से भेद की दृष्टि से विचार की बहुत गुंजाइश है।

पुनश्च :

यह सौभाग्य की बात है कि मुझे उसी नगर में स्थान प्राप्त है जिसमें शल्यजी का निवास है। इससे उनके दर्शन भी हो जाते हैं तथा दार्शनिक विमर्श का अवसर भी सुगम हो जाता है। इस निकटता के कारण यह सहज ही संभव हो सका है कि उन्होंने उपर्युक्त टिप्पणी को पढ़ा तथा इस सन्दर्भ में दो बिन्दु रखे।

(1) टिप्पणी में फ़िख़्ते के नाम का उल्लेख हुआ है तथा शल्यजी के साथ इस सन्दर्भ में चर्चा से यह प्रकट हुआ कि फ़िख़्ते का प्रवेश उनके चिन्तन में बहुत बाद में और वह भी आगन्तुक रूप में हुआ। जिस मूल विचार को उन्होंने अपने विवेच्य लेख में बुना है वह फ़िख़्ते को जानने के बहुत पहले ही उनके चिन्तन का विषय बन गया था। स्पष्ट है फ़िख़्ते का

नामोल्लेख नहीं करने का यह एक सहज कारण होगा। परन्तु दोनों विचारकों के विचार-संयोजन में किंचित् सुखद साम्य है। जर्मन प्रत्ययवाद के विद्यार्थी का ध्यान सहज ही उस ओर उन्मुख हो जाता है।

(2) एक दूसरा बिन्दु जो शल्यजी ने उठाया वह इस अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है कि 'शल्यजी पूर्वपक्ष के प्रति सहिष्णु प्रतीत नहीं होते....।' उनका आग्रह था कि इस बात को स्पष्ट किया जाय। यद्यपि ऐसा नहीं करने का औचित्य मैं प्रस्तुत कर चुका था परन्तु उनकी इच्छा का आदर करते हुए स्पष्टीकरण के रूप में कुछ संकेत प्रस्तुत कर रहा हूँ।

सर्वप्रथम तो शल्य जी के लेख में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि स्वयं अनुभव-वादियों के बीच अनुभव (इन्द्रियप्रत्यक्ष के रूप में) की भूमिका तथा उसके स्वरूप के विषय में एक सतत अन्तः – आलोचना होती रही है। सत्यापन के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कार्ल हैम्पल का प्रसिद्ध लेख 'द एम्पीरिसिस्ट क्राइटीरियन ऑव मीनिंग' इसका एक उदाहरण है। कार्नप का अपने उस मौलिक प्रयास के प्रति उदासीन हो जाना जिसके अन्तर्गत उन्होंने समस्त विज्ञान तथा सार्थक अनुभव को एक मौलिक भाषा में रखना चाहा था—इस अन्तः – आलोचना का एक दूसरा उदाहरण है। नीति, सौन्दर्य तथा धर्म यानि रैलिजन की भाषा को लेकर जो नकारात्मक दृष्टि लौजिकल पॉजिटिविस्टों के प्रथम कुछ वैचारिक सोपानों का फल थी उसके प्रति पीछे जो प्रतिक्रिया हुई वह इस बात से प्रेरित थी कि उन्हें निरर्थक कहकर यूँही नहीं छोड़ा जा सकता। उनकी ज्ञानात्मकता एवं वस्तु-निष्ठता को लेकर विचार ने अधिक महत्त्वपूर्ण तथा सकारात्मक दिशा में प्रगति की है। और फिर विट्गेन्स्टाइन का पॉजिटिविस्ट दृष्टि को छोड़ एक नितान्त भिन्न दिशा में दार्शनिक प्रक्रिया को समझने-समझाने का प्रयास उसी आलोचनात्मक दृष्टि की एक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

एक दूसरी बात यह है कि नीति, सौन्दर्य तथा धर्म के क्षेत्र को इन्द्रिय-प्रत्यक्षानुभव के क्षेत्र से तो अलग समझा ही गया है। प्रश्न यह है कि समस्त ज्ञान-व्यापार के सन्दर्भ में उनकी क्या भूमिका है अथवा क्या स्थान है। शल्यजी की दृष्टि से प्रमाणीकरण का जो मूल आधार है—आत्मनिवर्तन, वह अनुभव के इन दूसरे क्षेत्रों की समझ के कहीं अधिक निकट है, तथा अन्य क्षेत्रों को समझने के लिये भी उससे सही दिशा प्राप्त होती है। जहाँ नकारात्मक दृष्टि से अनुभववादियों तथा शल्य जी के मतों में कुछ समानता है सकारात्मक दृष्टि से यह बाद की बात उन्हें अनुभववादियों से अलग कर देती है।

तीसरी तथा अन्तिम बात यह है कि सत् एवं अस्तित्व के भेद को लेकर शल्य जी की आलोचना जितनी पूर्वपक्ष पर लागू होती है उतनी उनकी विचार-संयोजना पर भी लागू होती है। इस बात को यहाँ और अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसका उल्लेख पहले ही टिप्पणी में किया जा चुका है।

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर–302004

डा. भटनागर की आलोचना के प्रसंग में....

डॉ. भटनागर की समीक्षा के दो भाग कहे जा सकते हैं। एक भाग में उन्होंने मेरे लेख का सारांश प्रस्तुत किया है और दूसरे में उस पर कुछ आलोचनाएं। कलेवर की दृष्टि से इनमें प्रथम भाग मुख्य है। अब मेरे लेख का सारांश रूप में प्रस्तुतीकरण कहां तक सही है उसके सम्बन्ध में मैं इससे अधिक कुछ नहीं कहना चाहता, कि वह नितांत अनुपयुक्त है। यहां मैं केवल उनकी आलोचनाओं के प्रकाश में अपनी स्थिति स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा।

डॉ. भटनागर की पहली आपत्ति है कि मैं पूर्वपक्ष के प्रति सहिष्णु नहीं हूँ इसलिए मैंने उस पर समुचितरूप से विचार नहीं किया है। इसके सम्बन्ध में मेरे स्पष्टीकरण मांगने पर उन्होंने अपने लेख के अंत में 'पुनश्च' के साथ कुछ स्पष्टीकरण दिया है। उनकी इस आलोचना के सम्बन्ध में मुझे निवेदन करना है कि मेरा उत्तरदायित्व पूर्वपक्ष में उस संपूर्ण लेखन का सर्वेक्षण करना नहीं था जो इंग्लैंड-अमरीका के अनुभववादी संप्रदाय के अंतर्गत लिखा जा रहा है. मैंने केवल तत्त्वमीमांसा की प्रतिपादक पदावली को अर्थशून्य कहने वालों के उन प्रतिनिधियों को ही लिया है जिनका प्रतिपादन स्पष्टतम है। किन्तु भटनागर साहिब ने कार्ल हैंपल के जिस लेख और स्ट्रासन की तत्त्वमीमांसा की जिस ताज़ी अवधारणा का उल्लेख किया है उनमें उन्हें कौनसी ऐसी बात दिखायी दी जो मेरे द्वारा आकलित पूर्वपक्ष में नहीं आती, यह मुझे समझ में नहीं आया। हैंपल ने अनुभववाद की अर्थ की कसौटी की समस्याओं और उस कसौटी में परिवर्तन का जो लंबा-चौड़ा विवरण दिया है वह मेरे विचार के सन्दर्भ की दृष्टि से कार्नेप के प्रतिपादनों से एक सूद भी इधर-उधर नहीं है। जहाँ तक स्ट्रासन और उसकी सारी जाति के "मैटाफिज़िक्स" का प्रश्न है वह मैटाफिज़िकल विचार की दृष्टि से बर्ट्रेंड रसल के ग्रन्थों और विट्गेंस्टाइन के ट्रक्स्टेटस की तुलना में कहीं अधिक दरिद्र है। उसका "मैटाफिज़िक्स" शब्द का प्रयोग केवल उस उबाने वाली दार्शनिक मनःस्थिति को बदलने के लिए जँभाई लेने के साथ शब्द करने जैसा है जिस मनःस्थिति में तत्कालीन और उत्तरवर्ती इंग्लैंड का दर्शन है, और कुछ नहीं। किन्तु मुझे उसमें उत्तर-विट्गेन्स्टाइन के अनुयायियों की सतही दृष्टि से आगे कुछ

देखने और उस पर गद्गद् होने का कोई कारण दिखायी नहीं देता। तब भी तत्त्व-मीमांसा के औचित्य-प्रदर्शन के लिए मैंने जो जीवन और जगत्-विषयक प्रश्न उठाये हैं उनकी दृष्टि से कार्नप के भौतिकवाद और स्ट्रॉसन की "तत्त्वमीमांसा" में क्या अन्तर है, भटनागर साहब यह बताने की कृपा करें।

"पुनश्च" के अन्तर्गत वे लिखते हैं: "नीति, सौन्दर्य तथा धर्म के क्षेत्र को इन्द्रिय-प्रत्यक्षानुभव के क्षेत्र से तो अलग समझा ही गया है। प्रश्न यह है कि समस्त ज्ञान-व्यापार के सन्दर्भ में उनकी क्या भूमिका है अथवा क्या स्थान है?" इतनी बात वास्तव में बहुत अधूरी है। नीति, सौन्दर्य आदि को इन्द्रियानुभव के क्षेत्र से बाहर समझा गया, किन्तु प्रश्न है कि यह समझने का अर्थ क्या लिया गया? धार्मिक और कलाकार भी इन क्षेत्रों को इन्द्रियानुभव के विषय नहीं मानते। इसलिए इतना कहने का कोई अर्थ नहीं बनता। प्रश्न यह है कि इन्द्रियानुभव और ज्ञान-व्यापार की सर्वत्र बात उठे ही क्यों? दूसरे, अनुभववादियों ने ज्ञान को पूर्णतः इन्द्रियाश्रित ही माना और सब धर्म, नीति आदि क्षेत्रों को आवेगात्मकता का क्षेत्र बताया। अवश्य पीछे वाक्यों की सार्थकता का क्षेत्र विस्तृत किया गया और काव्य, धर्म तथा नीति-विषयक वाक्यों की सार्थकता उन्हें लौटायी गई, किन्तु वह सार्थकता ऐसी थी कि धार्मिक, कवि और नीतिवान् अपना माथा पीट लें। इन अर्थों के लिए डिस्कोर्सों के यूनीवर्सों का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया। अवश्य इससे भाषाविषयक, अथवा कहें अर्थ-विषयक विचार में विस्तार हुआ किन्तु ज्ञान और सत्-विषयक विचार में नहीं। भटनागर साहिब ने पाश्चात्य "अनुभववादियों में अनुभव की भूमिका के विषय में सतत अन्तःआलोचना" की बात लिखी है। पर इस आलोचना से ये लोग पहुँचे कहाँ? यहाँ भटनागर साहिब ने हैंपल के उपर्युक्त लेख का उल्लेख किया है किन्तु उसमें कौनसा परिवर्तन लक्षित होता है? वह लेख तो अर्थ की कसौटी विषयक है। अनुभव की भूमिका में यह भेद केवल इतना ही हुआ कि मूल वाक्यों के विषय अब संवेद-प्रदत्तों तक सीमित नहीं रखकर विकल्प से भौतिक वस्तु-विषयक भी स्वीकार कर लिये गए। भटनागर साहिब इस सम्बन्ध में विस्तार में नहीं गए, संक्षेप उनकी आलोचना का संबल है, मैं भी विस्तार में नहीं गया, क्योंकि न तो मेरे लिए यह अपेक्षित था और न मैं इनको वैसा महत्त्व देता हूँ कि इनकी चर्चा के बिना कहीं सार्थकता ही नहीं दिखायी पड़े। इस परंपरा पर एक आलोचनात्मक लेख अलग से मैंने 1967 में "सम-कालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन" नाम से लिखा था जो मेरी पुस्तक **विषय और आत्म** में प्रकाशित हुआ था।

"पुनश्च" के अंतर्गत ही भटनागर साहिब का निष्कर्ष है कि "जहाँ नकारात्मक दृष्टि से अनुभववादियों तथा शल्यजी के मतों में कुछ समानता है...." कैसी समानता? मुझे समझ नहीं आया।

अब यहाँ संक्षेप में "फिख़्ते के विचारों की छाप" की बात। जर्मन प्रत्ययवादियों में मैंने केवल हेगल की लॉजिक से दो या तीन अध्याय पढ़े हैं, फिख़्ते की एक पुस्तक पढ़ी जिसमें दर्शनेतर विषयों पर जनसाधारण के लिए लेख थे और एक शैलिंग की पुस्तक पढ़ी—ऑन ह्यूमन फ्रीडम। शेष पिछले दो दार्शनिकों पर दो-तीन इतिहास-ग्रंथों से पढ़ा क्योंकि इनकी अपनी कोई कृतियां स्थानीय पुस्तकालय में नहीं थीं और दयाजी का आग्रह था कि मुझे इन पर

उनके द्वारा संपाद्य एक पुस्तक के लिए लिखना है। और उनके लिए ये लेख लिखकर मैं इन दो दार्शनिकों के बारे में सब कुछ ऐसे भूल गया जैसे कभी मैंने इनका कुछ पढ़ा ही नहीं हो। इसलिए फ़िख़्ते की छाप की कोई बात नहीं हो सकती। कुछ लोगों ने हेगल से भी कुछ बातों में साम्य देखा है। वह हो सकता है किन्तु मुझे उसका इसलिए पता नहीं है क्योंकि मैं नहीं जानता कि मैं हेगल को कुछ भी समझता हूँ। किन्तु जॉन फिंडले की हेगल पर पुस्तक मैंने अपनी पुस्तक **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** लिखने के तीनेक वर्ष बाद पढ़ी और पाया कि फिंडले द्वारा दिये गये उद्धरणों में कुछ ऐसे हैं जिनसे यह कहा जा सकता है जैसे मैंने हेगल के ये वाक्य अनुवाद करके अपनी पुस्तक में दे दिये हों। ऐसा विचार-साम्य कुछ अन्य लेखकों से भी मैंने पाया है। इससे मैं सोचता हूँ कि मैंने संभवत: जो कुछ लिखा है वह सब पहले लोगों ने लिख रखा है। किन्तु उनमें से कोई भी लेखक न मेरा प्रेरणा-स्रोत है न उसकी मेरे पर छाप है। हाँ, **दार्शनिक विश्लेषण** में पाश्चात्य अनुभववादी मेरे प्रेरणा-स्रोत थे, **ज्ञान और सत्** में क्वाईन तथा **संस्कृति** में क्वाईन के साथ थोड़ा कॉसीरर। **विषय और आत्म** में एक परोक्ष प्रभाव फ़िनॉमिनलॉजिस्टों का रहा। उसके बाद मेरा कोई दार्शनिक प्रेरणा-स्रोत नहीं रहा, केवल उपनिषदों के कुछ मंत्र कल्पना में कभी कौंध जाते हैं। **मनुष्य और जगत्** और उसके बाद के लेखन का यदि कोई प्रेरणा-स्रोत है तो वह उपनिषदों की वह दृष्टि है जो उनको पढ़ते हुए प्रकाशित हुई। उपनिषत् और गीता इस अर्थ में दार्शनिक ग्रंथों से नितांत भिन्न हैं कि वे कुछ अभिहित नहीं कर केवल व्यंजित करते हैं। अथवा कहें, वे अपना विचार नहीं बताकर अध्येता की दृष्टि को ही जागृत करते हैं। हाँ, तो भटनागर साहिब कहते हैं कि मैं फ़िख़्ते की भांति आत्मतत्त्व को कृति कहता हूँ। किन्तु मैंने उस प्रसंग में उपनिषत् का मंत्र उद्धृत किया है, तब भी उन्हें फ़िख़्ते की क्यों सूझी और उसकी छाप क्यों दिखायी दी? शायद यह हमारे सब अध्यापकों की विशेषता है कि वे किसी विचार को अपने पूर्वपरिचित विचारों के माध्यम से ही समझ सकते हैं और उनके पूर्वपरिचित विचार पाश्चात्य दर्शन के इतिहास-ग्रंथों से प्रसूत हैं।

मेरे लेख का सारांश प्रस्तुत करने के बाद भटनागर साहिब ने कुछ आपत्तियां उठाई हैं जिन पर यहां हम संक्षेप में अपना स्पष्टीकरण देंगे। प्रथम आपत्ति है कि मेरी विचार-योजना में यह जानने का तथा उसके सम्बन्ध में विश्वस्त होने का कोई उपाय नहीं दीखता कि वस्तुतंत्रता का निर्धारक क्या सिद्धान्त हो सकता है? इसमे आगे अपने प्रश्न को बढ़ाते हुए उन्होंने जो कहा है उससे मेरी बात का पूरा हुलिया ही बिगड़ गया है। किन्तु मैं उसका स्पष्टीकर भी कैसे दूं? क्योंकि मैंने इस सम्बन्ध में काफी साफ़ बात लिखी है। तो भी कुछ कहूँगा। मैंने कहा है कि 'वस्तु' का आविर्भाव उस 'घोल' में से होता है जिसमें चेतना और विषय-वस्तु अपृथक्-अस्फुट-अनुद्भिन्न रहती हैं। वस्तु-विषय की स्फुटता उसी अनुपात में होती है जितनी विषयी की ज्ञानात्मक चेतना अपने में स्फुट होती है। अर्थात् विषयी की यह स्फुटता विषय से उसके निवर्तन के द्वारा, अथवा कहें विषय के अपने से निष्कासन के द्वारा, अथवा कहें विषय के उसके अपने तत्त्व में निर्धारण के द्वारा, घटित होती है और परिणामत: विषय की स्फुटता भी। अब स्पष्टत: यह विषयिता 'विषयिनिष्ठता' गत 'विषयी' पद का विपरीतार्थक है क्योंकि 'विषयिनिष्ठता' का अर्थ है विषयी की विषय से आसक्ति, अथवा कहें

विषय के तत्त्व का विषयी की मनःस्थिति से उपरंजन। इसे एक उदाहरण से देखें, प्रस्तुत प्रस्तर-खंड साधारणतः किसी पशु के लिए अविषय होगा, किसी के हाथ में होने पर वह तुरंत विषयः एक अस्त्र : हो जायगा । इसी प्रकार उसके लिए रोटी या घास भूख होने पर भोज्य विषय होंगे और पेट भरा होने पर भूमि पर पड़े प्रस्तरवत् उपेक्षणीय । एक साधारण मनुष्य के लिए प्रस्तर-खंड देशकाल में इतर-व्यावृत्त एक ऐसी निश्चित वस्तु होगा जो मकान बनाने, बादाम तोड़ने, अथवा किसी को मारने-रूप उपकरणताओं का आश्रय और कठोर, भारी आदि गुणों का गुणी है । किन्तु एक वैज्ञानिक के लिए वह "प्रस्तरत्वावच्छिन्न भौतिकत्व का देश विशेष में घटित होना" होगा । अब पशु में विषय विषयी से, अथवा कहें विषयी विषय से अस्वतंत्र है और यह विषयिनिष्ठता की पराकाष्ठा है, जनसाधारण में विषय विषयी से पृथक् और स्फुट होने पर भी यह स्फुटता ईषत् ही है क्योंकि वहां भी विषय अपने तत्त्व में अवस्थित नहीं होकर विषयी की वासना से अध्युषित रहता है । किन्तु तीसरे स्तर पर वह वासना से पर्याप्त अनुपहित और परिणामतः विषयिनिष्ठता से पर्याप्त मुक्त हो जाता है । किन्तु यह पूर्ण मुक्ति इसलिए नहीं होती क्योंकि यहां वैज्ञानिक प्रयोजन निर्धारक होता है । यह मुक्ति इस चतुर्थ स्तर पर होती है जिस पर इस स्तर का भी अतिक्रमण होता है, जैसा यहां हमारी चर्चा में है । यदि यहां मैं हुस्सर्ल के इपोखे. या ब्रैकटिंग का ध्यान दिला दूं तो हमारे अधिकांश मित्रों को मेरी बात सहज ग्राह्य हो जायगी, क्योंकि यूरोपीय दार्शनिकों की पदावली हमारे अध्यापकों को सहज ग्राह्य है । (वे कहेंगे : "हूं तो यों कहिये न, यह तो समझ में आया !" चाहे वह किसी को कुछ समझ में नहीं आया हो) अब यहां पूछा जा सकता है कि मैंने अपने लेख में इस खूंटे का स्मरण क्यों नहीं दिलाया ? इसका उत्तर है कि, क्योंकि उस समय मुझे इसका ध्यान ही नहीं आया । ध्यान इसलिए नहीं आया क्योंकि मेरे इस विचार का सन्दर्भ और मूल उससे भिन्न है । अब इसका ध्यान भटनागर साहिब के फिक़रे के स्मरण से आया । किन्तु तब भी इसका उल्लेख करने से पहले मैंने दो-तीन बार सोचा कि हुस्सर्ल का उल्लेख करूँ या नहीं करूँ, क्योंकि इससे मेरी बात परोक्ष हो जायगी और इस चश्मे के कारण यह दूसरे रंग में ही नहीं, कुछ टेढ़ी भी दीख सकती है । मेरे इस विचार का प्रथम व्यवस्थित प्रतिपादन मेरी पुस्तक **मनुष्य और जगत्** में संकलित लेख "प्रत्यङ्मुख चैतन्य: दर्शन का प्रारंभ-बिन्दु" में हुआ जो 1977-1978 में कभी लिखा गया था ।

आगे भटनागर साहिब बहुत रोचक प्रश्न उठते हैं । वे पूछते हैं : "यह किस प्रकार तय होगा कि आत्मोन्मुखता, विषयिनिष्ठता का अतिक्रमण, तथा अहंकार-युक्त अवर आत्मा से वर आत्मा की परिचायक अमुक स्थिति है ?" यहाँ निवेदन है कि अवर आत्मा और वर आत्मा का प्रसंग दूसरा है, किन्तु तब भी, यह प्रश्न दोनों प्रसंगों के लिए किया जा सकता है : अर्थात् 'आत्मोन्मुखता, निरहंकारता' अथवा अहंकारातिक्रमण, अवर आत्मा का साध्य या लक्ष्य-भूत वर आत्मा के प्रतीक रूप में रूपान्तरण इनका **टैस्टेबिलिटी क्राइटीरियन**, अथवा दयाजी की प्रिय शब्दावली में कहें **कॉग्निटिविटी क्राइटीरियन-कॉग्कीटिव कांटेंट** क्या है ? अब इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जा सकता है ? इसकी प्रेरणा पाश्चात्य तार्किक प्रत्यक्षवादियों के ऐसे आदर्श वाक्य हैं : "यह वस्तु ज्वलनशील है", जिसकी "परिचायक स्थिति", या "टैस्टिबिलिटी क्राइटीरियन", अथवा "मीनिंग कांटेंट" होगा "कुछ प्रासंगिक क्रिया-विधियों का प्रयोग

ग्रौर उनका परिणाम, जैसे माचिस को मसाला लगी डिबिया से रगड़ कर देखना।" किन्तु ग्रात्मोन्मुख निर्वर्तितता ग्रौर अवर ग्रात्मा के प्रतीकात्मकता में रूपान्तरण की जाँच की विधि क्या होगी ? इसके लिए लेख में मैंने कबीर का दोहा उद्धृत किया है। ग्रब भटनागर साहिब कबीर से भी पूछेंगे कि "इस 'सोने' ग्रौर 'जगने' की परख कैसे होगी ? ग्रौर फिर हो भी जाय तो "यह खाकर सोना जग कर रँभाने से श्रेष्ठतर है, इसके लिए आपके पास क्या कॉग्नीटिव एवीडेंस है ?" ग्रब कबीर बेचारे इसका क्या उत्तर देंगे ? किन्तु तब भी ग्रात्मोन्मुख निवर्तन ग्रौर निरहंकारता की परिचायक स्थिति का एक उदाहरण मैंने ऊपर दिया है। दूसरा उदाहरण नैतिक संदर्भ से हो सकता है—किसी से ग्राप कहते हैं, "ग्रापको उस बात पर व्यर्थ क्रोध ग्रा गया, ग्रापका वह व्यवहार उचित नहीं था।" और इसका वह उत्तर देता है : "हाँ, ग्राप ठीक कह रहे हैं, इसके लिए मुझे सचमुच बहुत खेद है।" इनमें पहला कथन दूसरे व्यक्ति से ग्रहंकार-मुक्त होने की मांग है ग्रौर दूसरा कथन ग्रहंकार-मुक्त होने का परिचायक। 'ग्रहंकार' पद का प्रयोग मैंने दो स्तरों पर किया है, एक अतिक्रामी स्तर पर ग्रौर दूसरा विषयात्मक स्तर पर। प्रथम स्तर पर दैहिक ग्रौर चैतसिक सब निर्धारण, जिनमें व्यक्ति रूप में अस्तित्व भी सम्मिलित है, अहंकार-मूलक हैं। ऊपर प्रस्तर-ज्ञान-विषयक उदाहरण में विषयता का स्तर-सोपान ग्रतिक्रामी ग्रहंकार ग्रौर उससे क्रमिक मुक्ति का सोपान है। उदाहरणतः 'यहां' ग्रौर 'ग्रब' प्रकारक निर्धारण ग्रौर प्रस्तर के प्रति चित्त की ग्रवस्था के ग्रनुसार ग्रभिवृत्ति यह साहंकारता की ठोसतम रूप में उपस्थिति है। इस पर प्रश्न हो सकता है : 'यहाँ और अब' रूप निर्धारण तो पाशव स्थिति में होता ही नहीं। इसका उत्तर होगा कि इनके निर्धारण में तो इनका ग्रतिक्रमण है, इनसे निर्धारण में इनकी ग्रधीनता। विषयात्मक स्तरीय अहंकार का उदाहरण होगा ज्ञानात्मक ग्रौर नैतिक निर्णयों में ग्रपने दृष्टिकोण की सीमाएं नहीं देख सकना।

इसके बाद भटनागर साहिब प्रश्न उठाते हैं "शल्यजी की विचार-योजना में अन्य व्यक्ति, या अन्य आत्मा ग्रथवा पुरुष के ग्रस्तित्व और ज्ञान के सम्बन्धों में क्या कहा जा सकता है ? ग्रवर आत्मा के स्तर पर पुरुष-बहुत्व को स्वीकारा जा सकता है पर वर ग्रात्मा के स्तर पर भी क्या यह स्वीकार संभव है ?.... ..व्यक्तियों के परस्पर ज्ञान के सन्दर्भ में ग्रात्मोन्मुख निवर्तन का इशारा किस ग्रोर होगा ?"

पहले प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में : सर्वप्रथम 'व्यक्ति' तथा 'आत्मा' ग्रथवा 'पुरुष' पर्याय-वाची नहीं हैं, इसलिए पिछले दो को यहाँ से हटा देना व्यमिश्र से बचने के लिए ग्रावश्यक है। ग्रब, जहाँ तक व्यक्ति का प्रश्न है, ग्रन्य व्यक्ति किसी के ग्रपने व्यक्ति-भाव की अनिवार्य ग्रपेक्षा है। किन्तु साथ ही आत्मचेतन चेतना की संरचना में ही इस ग्रात्म-पर-भेद का अति-क्रमण, वैयक्तिकता की औपाधिकता भी स्वरूपगत है। इस पर मैंने अनेक स्थलों पर विचार किया है। उदाहरणतः **मनुष्य ग्रौर जगत्** के तीसरे अध्याय में, **सत्ताविषयक ग्रन्वीक्षा** के ग्यारहवें अध्याय में ग्रौर उन्मीलन के इस ग्रंक में प्रकाशित लेख में भी। भटनागर साहिब के प्रश्न में यह व्यंजना है जैसे मानो ग्रन्य व्यक्ति की पारमार्थिक सत्ता का ग्रस्वीकार स्वतःसिद्ध दोष है। किन्तु क्यों ? यदि व्यक्ति-भेद पारमार्थिक हो तो युक्ति, विमर्श, "ग्रात्मवत् सर्व-भूतेषु" का नैतिक विधान सब ग्रसंभव होंगे। इस पर कहा जा सकता है कि वार्ता, विमर्श

इतर को पूर्वगृहीत करते हैं। अवश्य करते हैं किन्तु उनकी औपाधिकता में, पारमार्थिकता में नहीं, क्योंकि व्यक्ति-भेद पारमार्थिक होने पर "अपने को दूसरे के स्थान पर रखकर देखने" की बात का कोई अर्थ नहीं रहेगा। जहां तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, इसका उत्तर है कि आत्मोन्मुख निवर्तन आत्मचेतना में पूर्वगृहीत है क्योंकि आत्मचेतना का अर्थ है अपना विषयकरण कर स्वयं उसके विषयि पद पर आरूढ़ होना। इसी अनुच्छेद में भटनागर साहिब ने ब्रह्म और आत्मा का प्रश्न भी उठाया है। इसके सम्बन्ध में मेरा केवल इतना ही कहना है कि वैयक्तिता के उपाधि होने पर आत्मा और ब्रह्म में उस प्रकार कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसी प्रकार ब्रह्म को सबका तत्त्व कहने का अर्थ यह भी है कि सब चैतन्यस्वरूप है। किन्तु इस सम्बन्ध में परंपरागत विचार से मेरे विचार में थोड़ा अंतर है जो मेरे **मनुष्य और जगत्** से लेकर अब तक के लेखन में सर्वत्र देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में मेरी लेखनाधीन पुस्तक के भाषा विषयक अध्याय से एक उद्धरण देना उपयोगी होगा। उद्धरण है........"चेतना के निम्नतर स्तर उच्चतर के स्रोत नहीं होकर उसके उपादान कहे जा सकते हैं। उपादान को स्रोत रूप में देखना भौतिक और जैविक जगत् को समझने के लिए तो उपयुक्त अभ्युगम हो सकता है, चेतना के तत्त्व को समझने के लिए नहीं। उदाहरण के लिए नैतिक बोध का स्रोत इच्छाएँ, वासनाएं आदि नहीं हो सकतीं क्योंकि यह बोध इनमें निहित या अव्यक्त रूप में विद्यमान कुछ का विकसित रूप नहीं होता, बल्कि वह इनका नियामक, इन्हें अधिष्ठित कर इस स्तर के लिए अकल्पनीय सार्थकताओं के लिए इनका उपयोग करने वाला, होता है।" इस प्रतिपादन को ब्रह्मोपादानत्व-प्रतिपादक सिद्धान्तों के साथ रखकर देखने से मेरे विचार की भिन्नता का कुछ अनुमान हो सकता है।

यशदेव शल्य

पांडेजीकृत
तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन लेख*
एक टिप्पणी

पांडेजी के इस लेख के अनुसार तत्त्वमीमांसा को साक्षात्कारात्मक प्रज्ञा में आभासित तत्त्व का बौद्धिक प्रतीकों में अवधारण और विवेचन कहा जा सकता है। उनके शब्दों में "तत्त्वमीमांसा छाया-ग्राहिणी के शिकंजे में न फँसकर बुद्धि की भवसागर के पार उड़ान थी।.... वह आत्माराम सत्य का बुद्धिवाहित सन्देश थी।" (13)[1] इन दोनों वाक्यों में 'तत्त्वमीमांसा' साक्षात्कृत तत्त्व के बुद्धिवाहित रूप को कहा गया है किन्तु इनमें बुद्धि और साक्षात्कार का सम्बन्ध परस्पर विपरीत प्रकार का है : प्रथम के अनुसार बुद्धि प्रत्यङ्मुखता की दिशा में अपना अतिक्रमण कर साक्षात्कार में समाहित होती है और दूसरे के अनुसार साक्षात्कारात्मक चित् बुद्धि में उन्मिषित अथवा आभासित होता है। इनमें से वे किस व्यापार को तत्त्वमीमांसा कहते हैं? या कि उनके अनुसार दोनों व्यापार तत्त्वमीमांसा हैं? यह बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। यहां कहा जा सकता है कि बुद्धि के ये दोनों व्यापार परस्पर पूरक हैं और इस प्रकार दोनों संयुक्त रूप से, और पृथक्-पृथक् भी, तत्त्वमीमांसा हैं। हमें यह मत पूर्णतः मान्य है। किन्तु इस मत के प्रतिपादन के क्रम में पांडेजी ने कुछ बातें कही हैं जो कठिनाई उत्पन्न करती हैं। यों वास्तव में यह किसी भी लेख के साथ होता है कि गहराई से देखने पर उसमें दूसरों को कुछ कठिनाइयाँ दिखायी देती हैं। इस प्रकार यह इस अत्युत्कृष्ट लेख का कोई दोष नहीं है।

सर्वप्रथम, यहाँ कठिनाई साक्षात्कार्य तत्त्व के स्वरूप और उस तत्त्व के बौद्धिक अवगमन-गत स्वरूप को लेकर है। पांडेजी प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कहने हैं: "वस्तुतः प्रत्यक्ष आत्मानुभूति को ही मानना चाहिए।" (2) यहाँ स्पष्टतः उनका अभिप्राय है कि प्रत्यक्ष केवल तत्त्व-साक्षात्कार है और वह आत्मानुभूति से अभिन्न होता है। तब यहाँ प्रश्न है कि इस प्रत्यक्ष का कोई बाह्य विषय भी होता है या कि वह ज्ञान-ज्ञेय-भेद से रहित, निर्विषय और

---

* उन्मीलन, 1985.

1. इस टिप्पणी में उद्धरण पांडेजी के लेख और प्रोफेसर दयाकृष्ण की आलोचना पर की गई टिप्पणी (उन्मीलन, जुलाई 1986) दोनों से दिये गये हैं। लेख के उद्धरणों के साथ पृ. सं. मात्र दी गई है और टिप्पणी से दिये गए उद्धरणों के साथ दी गई पृ. सं. 'टि' संकेत के साथ दी गई है।

अखंड होता है ? दयाजी की आलोचना पर टिप्पणी में पांडेजी ने आत्मानुभूति को अनंत और अखंड ही कहा है। किन्तु यदि यह निर्विषय होता है तो साक्षात्कार और साक्षात्कार्य :प्रत्यक्ष और तत्त्व: अभिन्न हो जाते हैं। किन्तु पांडेजी यह भी कहते हैं कि "तत्त्व अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् है।" तब क्या पांडेजी यह कहना चाहते हैं कि अपरोक्षानुभूति और सत् पृथक्-पृथक् हैं या यह कि अपरोक्षानुभूति एकसाथ चित् और सत् दोनों होती है ? उदाहरणत: मेरी मान्यता यह दूसरी है, जैसाकि मैंने अपने लेख "तत्त्वमीमांसा और उसका औचित्य" में, और अन्यत्र भी विशद रूप से प्रतिपादित किया है। किन्तु पांडेजी के इस लेख में ऐसा प्रतीत नहीं होता। कम से कम यह स्पष्ट नहीं है। इस प्रसंग में उनका निम्न कथन विचारणीय है : "इस स्थिति में आर्ष प्रज्ञा आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण सांकेतिक भाषा में करती थी जो कि प्राचीन देव विद्याओं में उपलब्ध होता है। इनमें तत्त्व-निर्देश सृष्टि-प्रक्रिया के निदर्शन के रूप में मिलता है।" (11) यह प्रतिपादन अत्यधिक अस्पष्ट है क्योंकि सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण वेद, उपनिषद्, सांख्य, वेदान्त और पुराणों में एक-सा नहीं मिलता। यह कठिनाई इस प्रक्रिया के निरूपण को देव-विद्या के साथ मिला देने से और बढ़ जाती है, क्योंकि यदि उपनिषद् के सृष्टि-विषयक विचार को "एकोऽहं बहुस्याम" अथवा "स आत्मानं स्वयमकुरुत" आदि में संगृहीत माना जाय तो देव-विद्या से इसका समन्वय दुस्साध्य होगा, यद्यपि उन लोगों ने यह समन्वय बैठाने का प्रयत्न किया है जो वेद, उपनिषद्, स्मृति और पुराण में एकवाक्यता सिद्ध करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यह कठिनाई इस कारण और बढ़ जाती है कि "तत्त्वों को चैतन्य-सम्पन्न और अतएव देवता" मानने का अर्थ है कि भौतिक तत्त्व चैतन्य में अनपचेय है, विषय चित् की विषय-वृत्ति नहीं बल्कि स्वतंत्र वस्तु है जिसमें आत्मा एक दूसरी वस्तु के रूप में रहती है। कम से कम वेद में देवता का अर्थ यही है। किन्तु देव-विद्या का चाहे जो भी अर्थ मानें उसे "आर्ष प्रज्ञा द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों का सांकेतिक निरूपण" कहने की बात युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि आध्यात्मिक तत्त्वों का न्यूनतम भ्रामक निरूपण अमूर्त पदावली में अथवा उलटबांसियों की स्पष्टत: आत्मोत्क्रमणात्मक भाषा में ही सही हो सकता है, देवता आदि की वस्तुपरक पदावली में नहीं। वैदिक आर्ष प्रज्ञा को आत्मानुभूतिपरक—आत्म-साक्षात्कारात्मक कहने के बजाय ऐसी वैश्व प्रज्ञा कहना उपयुक्त होगा जिसके विश्व का स्वरूप आधिभौतिक के बजाय आधिदैविक-आध्यात्मिक है।

किन्तु यहाँ यदि इस मतभेद को छोड़ भी दें तो भी एक दूसरी महत्त्वपूर्ण कठिनाई उपस्थित होती है और वह यह कि क्या 'आर्ष प्रज्ञा द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों के इस सांकेतिक निरूपण' को तत्त्वमीमांसा कहा जा सकता है ? यदि हाँ, तो प्रश्न होगा कि पांडेजी नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, ईश्वरकृष्ण और शंकर आदि को तत्त्वमीमांसक मानते हैं या कि वैदिक ऋषियों को ? यहाँ उनका "तत्त्वमीमांसा के जन्म" का निरूपण द्रष्टव्य है। वे कहते हैं—"अतएव तत्त्व को अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् के अतिरिक्त और कुछ परमार्थत: नहीं माना जा सकता। इस सत् के संप्रेषण के लिए शुद्ध बुद्धि तत् को नाना सांकेतिक तत्त्वों का रूप देती है। यही वास्तविक तत्त्वमीमांसा का जन्म है।" (12) यहां ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानो वे "आर्ष प्रज्ञा द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों के सांकेतिक निरूपण" वाली बात ही पुन: कह रहे

हों और 'शुद्ध बुद्धि' पद 'आर्ष प्रज्ञा' का ही पर्यायवाची हो। इस प्रसंग में उनका अगला वाक्य इसकी पुष्टि करता प्रतीत होता है—"आत्म-विद्या से आविर्भूत बुद्ध्यात्मक तत्त्वमीमांसा पदार्थ-विद्या में तिरोहित हो जाती है।" (12) यह वाक्य अपने-आप में बहुत समस्यात्मक है क्योंकि 'आत्म-विद्या से आविर्भूत तत्त्वमीमांसा' पद 'आत्माराम का बुद्धिवाहित सन्देश' का पर्यायवाची ही प्रतीत होता है किन्तु इस वाक्य का शेष भाग इस अर्थ का बाधक है। इसलिए इसका अर्थ यह होना चाहिए कि 'आत्म-साक्षात्कारात्मक दृष्टि जब युक्ति-तर्क, प्रमाण-प्रमेय-परीक्षा में पराङ्मुख हो जाती है तब वह पदार्थ-विद्या हो जाती है, वास्तव में तत्त्वमीमांसी दृष्टि नहीं रहती।' किन्तु तब क्या यह माना जाय कि पांडेजी के अनुसार 'आर्ष प्रज्ञा का देव-विद्यापरक सांकेतिक निरूपण' सम्यक् तत्त्वमीमांसा है और उस प्रज्ञा का युक्ति-तर्क-परक विवेचन भ्रष्ट तत्त्वमीमांसा ? किन्तु डा. दयाकृष्ण की आलोचना का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि "मै भी उन्हें (विज्ञान और तत्त्वमीमांसा को) बुद्धि के ही क्षेत्र में रखता हूँ पर विज्ञान और तत्त्वमीमांसा को एक कोटि में नहीं रखता।" (टि. 131) आगे वे आत्मानुभूति और तत्त्व-मीमांसा के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कहते हैं: "आत्मानुभूति स्वरूपतया अनन्त और अखंड होने से मन और वाक् के परे मानी गई है। उसे लौकिक प्रत्यक्ष एवं विकल्पात्मक ज्ञान के समान एक अथवा अनेक नहीं कहा जा सकता। सौपाधिक रूप से ही वह मनोगोचर कही जा सकती है और इसी रूप में वह तत्त्वमीमांसा को विविध वैयक्तिक, सांप्रदायिक और ऐति-हासिक परिधान देती है।" (वहीं) यहां यह बात निस्सन्दिग्ध रूप से स्पष्ट है कि पांडेजी तत्त्वमीमांसा को बुद्धि के क्षेत्र में ही रखते हैं जो बुद्धि आत्मानुभूति को लक्षित करती है। किन्तु तब यह बात उनके लेख में वैसी स्पष्ट नहीं है।

इसके अनन्तर दो प्रश्न और हैं जो यहां विचारणीय हैं। प्रथम यह कि आत्मानुभूति स्वयं में पूर्ण है या कि वह इतर सत् की प्रापक अथवा उसकी संकेतक है ? पांडेजी ने अपने लेख में इस पर विचार नहीं किया है किन्तु दयाजी की एक आपत्ति के उत्तर में वे कहते हैं कि "यदि अनुभूति अपने लिए ही प्रमाण है, अपने विषय के लिए नहीं, तो प्रत्यक्ष (लौकिक और आध्यात्मिक) को प्रमाण-कोटि से हटाना होगा और उस अवस्था में कोई भी वस्तु-सत् प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकेगा। (टि. 130) यह सही है, किन्तु तब क्या आत्मानुभूति किसी अन्य प्रमेय के लिए प्रमाणभूत होती है ? कहा जा सकता है कि वे ऐसा मानते हैं और इसकी पुष्टि में उनके निम्न प्रकारक वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं: "ऐन्द्रिय विश्व का आधारभूत तत्त्व अतीन्द्रिय है, इस विश्वास को आध्यात्मिक अनुभूति ही प्रमाणित कर सकती है।" (11) किन्तु कैसे ? 'ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष भौतिक वस्तु के लिए प्रमाण है' यह ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में निहित गुण या लक्षण नहीं है, यह गुण निम्न स्तर पर सहज जैव प्रवृत्तिमूलक और उच्चतर स्तर पर अध्यवसायात्मक बुद्धिमूलक है। तब आत्मानुभूति की अतीन्द्रिय आधार-तत्त्व के लिए प्रमाण-भूतता किसमें निहित है ? आत्मानुभूति में या कि बुद्धि में ? जहां तक भारतीय दर्शन और साधना-परंपरा का प्रश्न है, वह आत्मानुभूति में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार नहीं मानती और जब पांडेजी उसे 'अनन्त' और 'अखंड' कहते हैं तब उनको भी यही अभिप्रेत है। इस कारण पांडेजी का आत्मानुभूति को अन्य प्रमेय के लिए प्रमाण कहना स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता

है। यहाँ वास्तव में बहुत-सी समस्याएँ हैं जिनकी ओर यहाँ हम केवल संकेत ही कर सकते हैं, इन पर विस्तृत चर्चा हमारी पुस्तक **सत्ता विषयक अन्वीक्षा** में और "तत्त्वमीमांसा और उसका औचित्य" लेख में हुई है। चित् के दो स्तर कहे जा सकते हैं : शुद्ध सदवस्था और प्रज्ञप्त्यवस्था। चित् की शुद्ध सदवस्था उसकी प्रज्ञप्ति-प्रज्ञप्त में अनुद्भिन्नावस्था है जबकि दूसरी उद्भिन्नावस्था। पूर्ण निद्रा और संभवतः सहज जैव प्रवृत्ति की अवस्था भी उसकी ऐसी ही अनुद्भिन्न सदवस्था कही जा सकती है। एक अन्य प्रकार से निर्विषय कृत चित्स्थिति, ब्राह्म या कैवल्य की स्थिति भी इसी कोटि में मानी जाती है। वास्तव में कुछ लोग शुद्ध आत्मानुभूति को भी इसी कोटि में मानते हैं और पांडे जी जब उसे "अनन्त-अखंड" कहते हैं तब वे भी इसे इसी रूप में निरूपित कर रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में उसे किसी सत् प्रमेय के लिए प्रमाण कहना युक्तियुक्त नहीं होगा। इस पर पांडे जी यह कह सकते हैं कि आत्मानुभूति की अतीन्द्रिय आधार-तत्त्व के लिए प्रमाणभूतता प्रमाण-प्रमेय व्यवहारात्मक नहीं है क्योंकि वह व्यवहार बुद्धि का विषय है, यह प्रमाणभूतता उसका स्वरूप है। हमें इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं दीखती। किन्तु तब यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि हम कैसे जानें कि कोई अवस्था वास्तव में आत्मानुभूति की ही अवस्था है? मादक द्रव्यों के सेवन से भी एक निर्विषय सुखावस्था की बात सुनी जाती है जिसे हम आत्मानुभूत्यात्मक अतीन्द्रिय आनन्दावस्था समझ सकते हैं, आत्मानुभूति की प्राप्ति की साधना में भी हम भ्रांतिवश किसी अन्य स्थिति को आत्मानुभूति की स्थिति समझ सकते हैं। हमारे विचार में यहीं तत्त्वमीमांसा के लिए अवकाश है : इस प्रकार की आत्म-सम्बद्ध भ्रांतियों का निवारण युक्त-विमर्श, युक्त चिन्तन और युक्त मनन के द्वारा ही साध्य होता है। इसे एक उदाहरण से हम स्पष्ट करेंगे : मेरा अमुक कर्म उचित था या नहीं यह संशय उपस्थित होने पर हमारे लिए यह देखना आवश्यक होता है कि मैंने वह कार्य क्रोध, स्वार्थ, भय या अहंकारवश तो नहीं किया है? इस पर कहा जा सकता है कि कर्म के औचित्य निर्णय में बाह्य परिस्थितियाँ भी प्रासंगिक होती हैं। अवश्य होती हैं, किन्तु वहाँ भी यह देखना ही आवश्यक होता है कि मैंने परिस्थितियों का विवेचन और अनुसन्धान सम्यक् चित्त से किया था या नहीं? उदाहरण के लिए युद्ध में कोई सैनिक पीछे हटने का निर्णय करता है। यह निर्णय नैतिक दृष्टि से उचित था या नहीं इसके लिए कसौटी केवल यह देखना है कि उसके लिए परिस्थितियों के विवेचन में वह अचेतन रूप से भय आदि से तो प्रभावित नहीं था? वह निर्णय उसने भय वश नहीं किया यह प्रामाणिक रूप से केवल वह सैनिक ही जान सकता है, किन्तु अधिकांश में यह स्वयं उसके लिए भी जानना अत्यधिक दुस्साध्य होता है, इसके लिए उसे आत्मा में प्रतिष्ठित होने की बहुत बड़ी साधना करनी होती है। यह साधना प्रत्यङ्मुख बुद्धि के विवेचन के रूप में ही होती है। जब इस विवेचन का विषय विशिष्ट नहीं होकर सामान्य होता है तब हम तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में होते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसे प्रश्नों पर विचार कि 'केवल व्यष्टि ही सत् है या केवल जाति, अथवा दोनों?' भी तत्त्वमीमांसा का क्षेत्र है या नहीं? हमारे विचार में ये प्रश्न भी तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र के अंतर्गत ही हैं, क्योंकि तत्त्व के स्वरूप पर पूर्ण विचार इन प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु

पृथक्तः ये प्रश्न आनुषंगिक ही, कभी-कभी अपकारी भी, माने जाने चाहिएँ, क्योंकि ये मुख्य मान लेने पर आत्म-तत्त्व पर विचार और अनात्म से उसका विवेक दृष्टि-ओझल हो जाता है। जिसे पांडेजी ने मध्ययुगीन तत्त्वमीमांसा कहा है उसका दोष यही है कि उसमें ये प्रश्न मुख्य और आत्म-विचार गौण हो गया था। और मूर, रसल प्रभृति आधुनिक पाश्चात्य चिन्तक तो इन प्रश्नों को ही, और पृथक्-पृथक् रूप से, विचारणीय समझते हैं। ऐसे में तो तत्त्व-मीमांसा, और वास्तव में दार्शनिक कर्म मात्र, अपने गम्भीर अर्थ में समाप्त हो जाता है।

यशदेव शल्य

तत्वमीमांसा सम्बन्धी पाँडेजी के लेख पर

शाब्दिक दृष्टि से 'जन्म-निधन', अथवा 'आविर्भाव-तिरोभाव' की अवधारणा ऐतिहासिक सन्दर्भ रखती हैं। व्यंग्यार्थ में उसका एक तात्त्विक सन्दर्भ भी हो सकता है। **उन्मीलन** (वर्ष 1, अंक 1) में प्रकाशित पाँडेजी का लेख 'तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन' इन दोनों पक्षों से लिखा गया है। ज्ञान की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में कोई भी विवेचन बहुधा दोनों पक्षों को आकर्षित करता है। दार्शनिक दृष्टि से इस प्रकार का विवेचन तभी सार्थक समझा जा सकता है जब परम्परा का निरूपण अथवा अन्वीक्षण तात्त्विक प्रश्न के उत्तर पर कुछ प्रकाश डालता हो।

पाँडेजी ने तत्त्वमीमांसा के प्रश्न पर विचार करते हुए पश्चिम तथा भारतीय दोनों सन्दर्भों को सामने रखा है। यद्यपि वे इनका भेद भी स्पष्ट करते चलते हैं, तथापि उनके समूचे विचार-क्रम में एक तारतम्य एवं विचार-योजना सन्निहित प्रतीत होती है, जिसमें ज्ञान से संबंधी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं तथा उनके सन्दर्भ में बुद्धि, अनुभूति, ऐन्द्रिय तथा अनैन्द्रिय प्रत्यक्ष की सापेक्ष भूमिका पर संक्षिप्त परन्तु सम्यक् विचार हुआ है।

यदि ऐतिहासिक सन्दर्भ लें तो तत्त्वमीमांसा के निधन की बात पश्चिम के एक सीमित दार्शनिक समुदाय के बीच इस शताब्दी के पहले कुछ दशकों में निर्णायक रूप में सामने आई। विट्गेन्स्टाइन की **ट्रैक्टेटस लॉजिक-फिलॉसोफ़िकस** में, जो 1918 में लिखी गई, तथा अंग्रेज़ी अनुवाद सहित जो 1922 में प्रकाशित हुई, एक सुनिश्चित ढंग से तत्त्वमीमांसा की निरर्थकता को सिद्ध करने का प्रयास हुआ। यद्यपि मूल तर्क ह्यूम के विचारों में लक्षित किया जा सकता है परन्तु विटगेन्स्टाइन की **ट्रैक्टेस**....के पूर्व तत्त्वमीमांसा की निरर्थकता एक सुनिश्चित सर्वमान्य मत रहा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु विटगेन्स्टाइन के बावजूद दार्शनिकों का एक बड़ा समुदाय उन समस्याओं के व्यस्त रहा है जो मूलत: तत्त्वमीमांसीय हैं। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि तत्त्वमीमांसा का निराकरण करने वाले विचारक सच्चाई से दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए उत्सुक थे। इस प्रयास में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ जो अब दार्शनिक चिन्तन एवं भाषा का एक सहज अंग बन गया है, यद्यपि तत्त्वमीमांसा की निरर्थकता की बात अब उतने निश्चयात्मक तथा विश्वासपूर्ण ढंग से सुनने या पढ़ने में नहीं आती।

प्रश्न यह है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ऐसी क्या समस्या है जो हमें तत्त्वमीमांसा के विषय में पुनः सोचने के लिए बाध्य करती है । लगता है पाँडेजी के सम्मुख ऐसी कोई समस्या अथवा प्रश्न नहीं है तथा लेख का प्रमुख उद्देश्य तत्त्वमीमांसा के स्वरूप के विषय में उनके अपने मत की अभिव्यक्ति है । उसका स्वागत है । अपने तात्त्विक विचार को वे अपने लेख के अन्तिम पैराग्राफ़ में व्यक्त करते हैं ।

उनका मत है कि "जब उस तत्त्व की अनुभूति के सम्प्रेषण की आवश्यकता होती है जो "अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् है" तब बुद्धि द्वारा इस सत् का "सांकेतिक तत्त्वों" के रूप में रूपायन तत्त्वमीमांसा का आविर्भाव है । इसके विरुद्ध जब बुद्धि बहिर्मुखी होती है, पदार्थ-विद्या में व्यस्त होती है, उस अवस्था में तत्त्वमीमांसा का तिरोभाव हो जाता है । पाँडेजी का यह मत अनेक प्रश्नों को जन्म देता है जिनमें से कुछ का उत्तर हमें उनके इस लेख से नहीं मिलता ।

अन्तिम पैराग्राफ़ के आरम्भ में पाँडेजी कहते हैं, "यदि वस्तु-परिचय को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित माना जाय तो फिर वस्तु-निर्धारण आधिभौतिक जगत् के परोक्ष और सम्भावनात्मक विज्ञान के अतिरिक्त संभव नहीं है ।" इस कथन से क्या यह ध्वनि प्राप्त नहीं होती कि यदि "वस्तु-परिचय" को इस प्रकार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं माना जाय तो "वस्तु-निर्धारण" के सम्बन्ध में हम भिन्न प्रकार के निष्कर्ष की आशा कर सकते हैं ? यदि इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक हो तब क्या पाँडेजी का आशय यह है कि विज्ञान तथा तत्त्वमीमांसा का विषय तो एक ही है, परन्तु बुद्धि (जो उनके मत से उभयमुखी है) की दो दिशाएँ उस विषय को दो भिन्न रूपों में उद्घाटित करती हैं ? आगे पाँडेजी कहते हैं कि "तत्त्व को........ कार्यानुमेय उपादान मानने पर वह तत्त्व न रह कर अन्यसम्बद्धत्व ही रह जाता है ।" इस अवस्था में लक्ष्य-लक्षण सन्दर्भ उभर आता है, तथा परिणामतः बुद्धि-विकल्पों के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता । अब यदि तत्त्व तत्त्व नहीं रह जाता तो क्या यहाँ यह अभिप्रेत है कि जो वस्तु-वैलक्षण्य के रूप में अवधारित है वह वस्तुतः तत्त्व है ही नहीं, अथवा यह कि तत्त्व तो है परन्तु वह अपने वास्तविक रूप में लक्ष्य-लक्षण व्यापार से परे है ? यदि पहला अभिप्राय लें तो विज्ञान एवं तत्त्वमीमांसा के विषयों में भेद मानना होगा, जब कि दूसरे अभिप्राय के आलोक में विषयों में अन्तर न मानकर उनके बौद्धिक एवं अपरोक्ष ग्रहण में भेद मानना होगा ।

इस बात को आगे बढ़ाने के पूर्व यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पाँडेजी तत्त्व-मीमांसीय विचार-व्यवस्था तथा तत्त्व की अपरोक्षानुभूति में अन्तर करते हैं । तत्त्वमीमांसीय विचार-व्यवस्था तत्त्व की अपरोक्षानुभूति के सम्प्रेषण की अपेक्षा का परिणाम है । ऐतिहासिक सन्दर्भ के निरूपण में पाँडे जी ने अपरोक्षानुभूति की सम्प्रेषणीय अपेक्षा की अभिव्यक्ति को दो प्रकार का बताया है : आर्ष-प्रज्ञा के द्वारा तथा तर्क-प्रज्ञा के द्वारा । इसके साथ यदि हम यह और जोड़ लें कि इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं की अनेक संभावनाएँ है और इसिहास में उनका साक्ष्य भी प्राप्त होता है, तो हम पाँडे जी की विचार-व्यवस्था को ही विस्तार दे रहे हैं । परन्तु इस अवस्था में विभिन्न तत्त्वमीमांसीय व्यवस्थाओं अथवा विचार-

तन्त्रों की तुलना एवं मूल्यांकन का प्रश्न उपस्थित होता है। पुनः, इस बात का क्या आधार होगा कि अमुक विचार-तन्त्र अनुभूति को सही रूप में अथवा निकटतम सही रूप में व्यक्त करता है? पाँडेजी की यह टिप्पणी कि यह बौद्धिक व्यापार तो तत्त्व को अन्ततः विकल्पपर्यवसायी बना देता है, किसी अर्थ में यह स्वीकार करना है कि कोई बौद्धिक योजना तत्त्व की अपरोक्षानुभूति को इस रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकती कि वही एकमात्र सही एवं पूर्णतया पर्याप्त हो। फलस्वरूप वैज्ञानिक अपूर्णता एवं अपर्याप्तता तथा तत्त्वमीमांसीय तन्त्रों की अपूर्णता एवं अपर्याप्तता एक-दूसरे से स्पर्धा नहीं कर सकतीं। कहा जा सकता है, जैसा पाँडे जी कहते हैं, कि दोनों की दिशाएँ परस्पर विपरीत हैं—एक का होना दूसरे का न होना है।

दूसरी ओर यदि यह मानना ठीक हो कि ज्ञान किसी भी प्रकार का हो—चाहे उसका सम्बन्ध ऐन्द्रिय विषयों से हो अथवा किन्हीं तार्किक संभावनाओं से, वह बौद्धिक विकल्प से रहित नहीं हो सकता। तब तत्त्वमीमांसा एवं पदार्थ-विद्या का भेद अन्तविरोध का नहीं अपितु स्तर का मानना होगा।

कुछ पंक्तियों के पूर्व यह प्रश्न उठाया गया था कि विज्ञान एवं तत्त्वमीमांसा का विषय एक ही है। लेख के अन्तिम वाक्य में 'आत्मविद्या' तथा 'पदार्थविद्या' का विरोधी रूप में उल्लेख 'एक विषय' के विकल्प के लिए स्थान नहीं छोड़ता। उस दशा में यह स्थापना कि तत्त्वमीमांसा आत्म तत्त्व से ही उद्भूत होती है, आत्मेतर तत्त्व से उसका आविर्भाव नहीं हो सकता, एक औचित्य तथा आधार की माँग करती है, या फिर पाँडे जी की विचार-योजना में आत्मतत्त्व के अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व ही न हो, उस दशा में इस अद्वैत की प्रतिष्ठा की अपेक्षा रहती है।

तत्त्व की अपरोक्षानुभूति अथवा प्रत्यक्ष की आत्मानुभूति, जो करणयुक्त है तथा इसलिए साक्षात् है, साथ ही जो विकल्पमुक्त है, विज्ञप्तिमात्रता के बहुत निकट प्रतीत होती है। कदाचित् यह पाँडे जी को मान्य न हो। उस अवस्था में उनकी अवधारणा तथा बौद्ध अवधारणा में क्या अन्तर होगा—ऐसी जिज्ञासा होती है।

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

उन्मोलन के इसी अंक में संकलित डा. हर्षनारायणजी के लेख "करुणा: हमारे सांस्कृतिक प्रकर्ष का एक प्रतीक" पर उन्मीलन-गोष्ठी की कार्यवाही का विवरण।

इस गोष्ठी में लेख को प्रस्तुत करने और उस पर विचार-विमर्श आरंभ करने का उत्तरदायित्व मुझे सौंपा गया था। इस क्रम में जो मैंने टिप्पणी की वह यहां प्रस्तुत की जा रही है। इस टिप्पणी के बाद विचार-विमर्श आरंभ हुआ। उसका विवरण भी टिप्पणी के अनंतर दिया जा रहा है। एक और टिप्पणी : डा. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर द्वारा अनंतर प्रस्तुत: इस विवरण के बाद दी जा रही है।

टिप्पणी

डॉ० हर्षनारायण का लेख "करुणा: हमारे सांस्कृतिक प्रकर्ष का एक प्रतीक" विद्वत्तापूर्ण है किन्तु एक दर्शन के विद्यार्थी के लिए यह सहज स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि इसमें न केवल आधार-विषयक प्रश्न ही नहीं उठाये गए हैं बल्कि मूलतः पृथक् अवधारणाओं को व्यामिश्रित भी कर दिया गया है। जैसे, उनका मूल प्रतिपाद्य है कि "संस्कृति का अर्थ है मानव की प्रगति हिंसा से अहिंसा की ओर होना"....आदि। किन्तु इस प्रतिपादन का क्या औचित्य है, दर्शन के विद्यार्थी के लिए यह एक अनिवार्य प्रश्न है। इस प्रश्न को उठाये बिना यह प्रतिपादन 'दार्शनिक' विशेषण का अधिकारी नहीं होता। अब, विभिन्न संस्कृतियों के विभिन्न चरित्र और गुण हैं और वे अपने-अपने चारित्रिक गुणों को ही सर्वश्रेष्ठ मानती हैं। तब आप अपनी संस्कृति के विशिष्ट गुण को किस आधार पर उत्कृष्टतर मानते हैं, यह प्रश्न सहज में भी उठता है। दर्शन के विद्यार्थी के लिए तो यह प्रश्न तब भी उठता है यदि सब लोगों में इस सम्बन्ध में ऐकमत्य हो। किन्तु हर्षनारायण जी को यह प्रश्न प्रस्तुत भी नहीं हुआ, यह आश्चर्य की बात है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने जो प्रतिपादित किया है उसमें कुछ भ्रांतियां, कुछ अस्पष्टताएं और कुछ असंगतियां भी हैं। सबसे बड़ी भ्रांति जैनों के अहिंसा-विषयक प्रतिपादन को स्वार्थमूलक कहने में है। उनके अनुसार "जैन धर्म-दर्शन अहिंसा का विधान करुणा की भावना से ओत-प्रोत होकर नहीं बल्कि संसार से पवित्र रहने की (स्वार्थमयी) भावना से भावित होकर करता है।" जैसाकि हर्षनारायण जी द्वारा ही दिये गए उद्धरणों से स्पष्ट है, जैन लोग अहिंसा के लिए प्राकृतिक मानसिकता : आवेगमूलक मानसिकता: के अतिक्रमण और संसार-भाव से ताटस्थ्य या विरक्ति को आवश्यक मानते हैं। यह दृष्टि बौद्धों की महाकरुणा की अवधारण से कैसे भिन्न है, जिसके अनुसार, हर्षनारायण जी के ही शब्दों में, दुःख दैहिक-मानसिक रोग-शोक

नहीं है बल्कि उपादान, लक्षण और सम्बन्ध मात्र है, अथवा कहें सांख्य-योग-सम्मत प्रकृति से अविवेक मात्र ही है ? यहीं हर्षनारायण जी आगे कहते हैं : "सम्यक् सम्बुद्ध की महाकरुणा सत्त्वावलंबना (रोग-शोकोद्दिष्ट) नहीं होकर वस्तु-धर्मा होती है।" अब, करुणा के वस्तु-धर्मा होने का क्या अर्थ है ? सिवाय इसके कि उद्वेग-रहित होकर वस्तु-स्वरूप जैसा है उसे वैसा देखना ? इस दृष्टि के अनुसार सबसे बड़ा दुःख वस्तुओं में सत्त्व-बुद्धि: ऐक्य, स्थायित्व, व्यष्टित्व वाचक आत्मा के होने की बुद्धि: है। अब इस बुद्धि, या कहें दुःख, के प्रति करुणा कैसी होगी ? यह जैनों की 'अहिंसा' से, निवृत्ति से, इस बात के अतिरिक्त कैसे भिन्न होगी कि यह निवृत्ति असंसार-भाव में उससे भी अधिक मूलगामिनी है ? इस सब बात को छोड़ते हुए भी, असंसार-भाव में, निवृत्ति में स्वार्थपरता कैसी? क्योंकि इसमें 'स्व' का लय तो सबसे पहली अपेक्षित है ? किन्तु जैनों की "प्यासे को पानी देने का उपाय करने" का उपदेश करने अथवा उसका निषेध करने के प्रति ताटस्थ्य की दृष्टि का, अथवा स्वास्थ्य और समृद्धि को रोग-शोक का ही एक रूप मानने की बौद्ध दृष्टि का यह अर्थ कभी भी नहीं है कि इनमें रोग और शोक-ग्रस्त को देखकर उसकी सहायता के प्रति पूरा प्रयत्न करना जैन मुनि और सम्यक् सबुद्ध का अनिवार्य कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि उच्चतम साध्य में निम्नतर साध्य निषिद्ध नहीं होते, वे केवल उच्चतम दृष्टि के अधीन रूपान्तरित हो जाते हैं। यहां कांट के उस प्रतिपादन का स्मरण स्थाने होगा जिसके अनुसार 'पड़ौसी की उसके दुःख में सहायता द्रवित होकर करना नैतिक नहीं है बल्कि उसके प्रति घृणा या औदासीन्य होने पर करना ही नैतिक है।"[1] यह प्रतिपादन स्पष्टत: जैन या बौद्ध या सांख्य-दृष्टि से तुलनीय नहीं है किन्तु इसकी दिशा वही है।

---

१. डा. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर ने यहां कहा कि यह कांट ने नहीं कहा, यह किसी कवि ने उसका उपहास उड़ाने के लिए लिखा है। मैंने स्वीकार किया कि मैंने इस समय यह केवल स्मृति के आधार पर ही लिखा है किन्तु यह कांट के विचार के सर्वथा अनुकूल अवश्य है। घर लौट कर मैंने उसकी "ग्राउंडवर्क ऑफ दि मैटाफिजिक्स ऑफ मॉरल्स" पुस्तक देखी जिस से नीचे अनुवाद किये बिना ही उद्धरण दे रहा हूं : To help others where one can is a duty, and besides this there are many spirits of so sympathetic a temper that, without any further motive of vanity or self-interest, they find an inner pleasure in spreading happiness around them and can take delight in the contentment of others as their own work. Yet I maintain that in such a case an action of this kind, however right and however amiable it may be, has still no genuinely moral worth . . . . . . still further, if nature had implanted little sympathy in this or that man's heart, if he were cold in temperament and indefferent to the sufferings of others . . . . . would he not still find in himself a source from which he might draw a worth far higher than any that a good-natured temperament can have ? Assuredly he would" 398/11 निश्चय ही यहां 'घृणा' शब्द नहीं है, किन्तु मैंने भी वह 'या' के साथ ही प्रयुक्त किया है। दूसरे, कांट के संदर्भ में, क्या औदासीन्य के बजाय वैपरीत्य भाव रहने पर कर्त्तव्य-कर्म का उत्कर्ष और नहीं बढ़ा जायगा ? भारतीय दृष्टि में तो यह निश्चय ही घटेगा ही नहीं बल्कि समाप्त हो जायगा, किन्तु कांट की दृष्टि में ? तो भी, यहां 'घृणा' शब्द हटा देने से कोई अंतर भी नहीं पड़ेगा।

बौद्ध करुणा के उदाहरण के रूप में हर्षनारायण जी बोधिचर्यावतार से एक उद्धरण देते हैं जिसके अनुसार बोधिसत्त्व कहता है : "आनन्द के जो सागर अन्यों को मुक्त कराने में उमड़ते हैं उनके आगे नीरस मोक्ष में क्या रखा है ?" अब, यदि यह कारुण्य सम्यक् सम्बुद्ध का, नितांत निरुद्विग्न जैन मुनि का नहीं है और इस प्रकार 'नीरस' आदि पदों का प्रयोग केवल लाक्षणिक नहीं है तो इसका अर्थ होगा कि यह केवल भावनात्मक—प्राकृतिक मनोमूलक—सुख की चाह से अभिन्न है और इसमें यह अपेक्षा भी है कि कहीं सब मुक्त होकर बोधि-सत्त्व को इस आनन्द से वंचित ही नहीं कर दें । और दूसरे यह भी कि बोधिसत्त्व अपने आनन्द के लिए दूसरों को मुक्ति के बीहड़ में धकेलने में भी संकोच नहीं करता ।

आपादनों की इस शृंखला को यदि इतनी दूर नहीं भी ले जाएँ तो भी सत्त्वावलंबना करुणा और वस्तु-धर्मा महाकरुणा में कोई तारतम्य नहीं हो सकता यह देखना किसी के लिए कठिन नहीं होना चाहिए । किन्तु हर्षनारायण जी इनमें कोई प्रकार-भेद नहीं देखकर केवल क्षेत्र-भेद ही देखते हैं । किन्तु वे यह नहीं देखते कि क्षेत्र-भेद से स्वतः प्रकार-भेद भी हो जाता है । उदाहरणतः वणिक की धन में आसक्ति, कामी की स्त्री/पुरुष में आसक्ति और मीरा की कृष्ण में आसक्ति में क्षेत्र-भेद है और परिणामतः प्रकार-भेद भी । वास्तव में यहां एक पद के प्रयोग से यह नहीं समझना चाहिए कि अर्थ भी एक ही है, इसे अनेकार्थक पद कहना अधिक समीचीन होगा । इसी प्रकार मार्क्स की इंगलैण्ड के श्रमिकों के प्रति आर्द्रता, मदर टेरेसा की रोग-दारिद्र्य-संतप्त जन को देखकर उदित आर्द्रता, और बुद्ध की जीव की तात्त्विक : अतिक्रामीः अविद्या के प्रति आर्द्रता में भी क्षेत्र-भेद ही है, किन्तु तब इससे भिन्न प्रकार-भेद कैसा होगा ?

इसी प्रकार आत्मौपम्य के सम्बन्ध में । यहां भी वे पृथक् अवधारणाओं में पार्थक्य नहीं देख रहे हैं । इसके अन्तर्गत वे उपनिषत् के सर्वात्मैक्यवाद को भी रख रहे हैं और दूसरी ओर बोधिचर्यावतार में आचरण की नीति के सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित समता को, नैतिक आचरण की दृष्टि से आत्म-पर की अविशेषता को भी रख रहे हैं । अब इनमें प्रथम में जबकि औपाधानिक अभेद-दृष्टि, भेद के औपाधिक होने की दृष्टि है, दूसरे में आत्म-पर में वैयक्तिक भेद के मौलिक होने की दृष्टि है । हर्षनारायणजी ने इनमें कोई भेद नहीं किया है ।

यहां यह भी द्रष्टव्य है कि ये दोनों दृष्टियां करुणा को नैतिक बोध के रूप में कोई सैद्धांतिक या प्रतिभात्मक आधार नहीं दे सकतीं । अद्वैत दृष्टि के पक्ष में हर्षनारायणजी ने डायसन को उद्धृत किया है, कि "पड़ौसी में और मेरे में तात्त्विक अभेद होने से उसके प्रति सहानुभूति करना मेरा धर्म है ।" यहां प्रश्न होगा कि मेरे में और अन्य में अभेद होने पर पड़ौसी-पड़ौसी ही नहीं रहता, वह तो 'मैं' ही हो जाता है, ऐसी अवस्था में मैं यहां स्थित अपने को कष्ट देकर वहाँ स्थित अपने को हो रहे कष्ट के निवारण के लिए क्यों प्रवृत्त होऊँ ? और फिर इस अभेद-स्थिति में कष्ट भी कहां है ? अब यदि कहें कि कष्ट और भेद औपाधिक रूप में तो हैं ही, इसलिए तात्त्विक अभेद को जानते हुए मेरे में पड़ौसी के दुःख के प्रति सहानुभति सहज ही होगी । यह द्रष्टव्य है कि ऐसा कहने पर प्रथम तो करुणा के प्रति विधिरूपता समाप्त हो जायेगी—तब यह नहीं कहा जा सकेगा कि ऐसा मुझे करना चाहिए, यही कहा जा सकेगा कि यह ज्ञान होने पर यह सहानुभूति होगी ही; दूसरे, सहानुभूति का आधार अन्यत्व के अहं

में लय होने से प्राथमिकता अहं की होगी, अन्य की नहीं। ऐसे में औपाधिक भेद में भी मुझे अन्य के कष्ट-निवारण में वहीं तक प्रवृत्त होने की प्रेरणा होगी जहां तक यह मेरी सुविधा में बाधक नहीं हो।

जहाँ तक आत्म-पर भेद में आत्म के पर से अविशिष्ट होने का प्रश्न है, यह बोध उचित-अनुचित के निर्णय में तो आधारभूत है किन्तु इससे यह कहीं आपादित नहीं होता कि अन्य मेरे से प्रथम है, जोकि करुणा, आत्म-त्याग आदि में आधारभूत है। आत्म और पर के अविशिष्ट होने पर राजा शिवि का कपोत के लिए अपने को तुला पर चढ़ा देने का कोई औचित्य नहीं बनता, बल्कि उसका यह कर्म अनुचित हो जाता है क्योंकि राजा शिवि के मरने पर अनेक जनों को कष्ट होगा, कबूतर के मरने पर संभवतः किसी को नहीं। आत्म-पर की अविशेषता का सिद्धांत या बोध नैतिक बोध के लिए पूर्वापेक्षित इसलिए है क्योंकि यह अविशेषता अहंकार के अतिक्रमण की वाचक है जो ज्ञानात्मक और नैतिक दोनों निर्णयों की विषयनिष्ठता के लिए अनिवार्य है।

अब संक्षेप में राजा शिवि और राजा दिलीप के उदाहरणों के सम्बन्ध में। शिवि की प्रेरणा शरणागत की रक्षा की कर्त्तव्यता थी, करुणा नहीं। शरणागत की रक्षा का सम्बन्ध वीरता और साहस से था, करुणा से नहीं। इसी से यह कर्त्तव्य मुख्यतः क्षत्रिय का ही था, ब्राह्मण या वैश्य का नहीं। जहाँ तक राजा दिलीप का प्रश्न है, वे पुत्र-प्राप्ति के लिए जिस दिव्य गाय की सेवा कर रहे थे उसकी रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था, अन्यथा तो क्षत्रिय गाय-हरिण आदि का आखेट और वध करते ही थे।

अब अन्त में संक्षेपतः यह देखना भी स्थाने होगा कि क्या करुणा और अहिंसा हमारी संस्कृति के मुख्य चारित्रिक गुण हैं? इसके लिए यदि हम वेदों, पुराणों और महाकाव्यों को देखें तो पायेंगे कि ऐसी कोई बात वहाँ नहीं है। उनमें निरन्तर दानवों, आततायियों और दुर्जनों का संहार ही किया जाता मिलता है। यह सही है कि हमने अहिंसा को भी महत्त्व दिया, किन्तु वैष्णवों, जैनों और बौद्धों को छोड़कर शेष ने गांधीजी से पहले वह केवल आध्यात्मिक साधना के सन्दर्भ में ही दिया, सांसारिक जीवन के सन्दर्भ में नहीं। करुणा को यह महत्त्व ईसाई धर्म में भी कम नहीं है। भारतीय मनीषा की इसमें विशिष्टता दो बिन्दुओं पर दिखायी देती है: एक सम्यक् संबुद्ध की महाकरुणा में, जहाँ वह कष्ट के मनोभाव के लिए दयालुता का मनोभाव नहीं है बल्कि जीव की अविद्या के प्रति अतिमानसिक, अनुद्विग्न, अक्लिन्न संबुद्ध की आशीर्वादात्मक अभिमुखता मात्र है। दूसरी महात्मा गान्धी में, जिन्होंने अन्य को दंड देने तक का अधिकार मनुष्य के लिए अस्वीकार कर दिया और इसे मनुष्य के जीव मात्र के साथ सम्बन्ध का आधार-स्तम्भ बनाया। उनके लिए अहिंसा आध्यात्मिक और वैयक्तिक कर्म-विषयक एक विधान नहीं थी, बल्कि राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सब प्रकार के कर्म के औचित्य की आधारभूत कसौटी थी।

ये दो बिन्दु हैं जिनके लिए हमारी संस्कृति वैशिष्ट्य का दावा कर सकती है। इस वैशिष्ट्य में उत्कृष्टता भी है, यह एक पृथक् प्रश्न है, जिसके लिए युक्ति की अपेक्षा है।

यशदेव शल्य

विचार-विमर्श

उपर्युक्त टिप्पणी पर सामान्यतः सभी सहमत थे, इस अन्तर के साथ कि दयाजी ने लेख में कोई दार्शनिक प्रश्न नहीं उठाये गये होने और विचार का कोई केन्द्र और दिशा नहीं होने की बात अधिक बल देकर कही और डा. भटनागर ने इसे स्वीकार करते हुए भी कहा कि लेख में कुछ महत्त्वपूर्ण विचार्य प्रश्न उठाये गए हैं। इसके अनन्तर इस लेख को छोड़ कर डा. प्रकाशकुमार श्रीवास्तव ने करुणा और नैतिकता के बीच सम्बन्ध का प्रश्न उठाया। उन्होंने कहा कि उनके विचार में करुणा नैतिक निर्णय और नैतिक कर्म में बाधक बनती है, इसलिए यह नीति-विरुद्ध या नीति-बाधक भाव है।

इसके उत्तर में मैंने कहा कि यह करुणा का मनोभावात्मक अर्थ है। किन्तु 'करुणा' के इस अर्थ में भी मैं समझता हूँ कि यह नैतिक विचार और नैतिक कर्म में सहायक भाव हो सकता है, क्योंकि यदि अन्य के प्रति आप में सहानुभूति, सौहार्द और अद्वेषता हो तभी आप उसके दोष के लिए उसे दण्ड देने के अधिकारी हो सकते हैं, विपरीत भाव होने पर नहीं।

इस पर दयाजी ने कहा कि भावनाएँ कर्म को तो प्रभावित करती ही हैं, इस कारण करुणा होने पर हम अन्य को दण्ड देने में प्रवृत्त हो ही नहीं सकते, करुणा उसमें बाधक बनेगी। उन्होंने आगे कहा कि 'मर्सी' और 'जस्टिस' ये दो पृथक् अवधारणाएँ हैं।

इस पर मैंने कहा कि 'मर्सी' का प्रसंग तो 'जस्टिस' ही है, किन्तु 'मर्सी' करुणा नहीं है। करुणा एक उदात्त भाव है जो दूसरे की विषयिता में प्रतिष्ठित होने में सहायक होता है। यह होने पर, यदि आपका विवेक भी जागृत है तब आप इसे न्याय और उचित कर्म में बाधक नहीं बनने देंगे। इस पर मैंने उन दो ऋषि-भाइयों का उदाहरण दिया जिनमें छोटे भाई के बड़े के आश्रम में आकर उसकी अनुपस्थिति में फल खाने पर बड़े ने छोटे को चोरी के पाप से मुक्त होने के लिए पश्चात्ताप के रूप में हाथ कटवाने का परामर्श दिया। राजा हरिश्चन्द्र और गांधी जी के उदाहरण भी मैंने दिये। और तब कहा कि वास्तव में नीति के लिए सदैव जागते रहना और, कबीर के शब्दों में कहें तो, तलवार की धार पर दौड़ने की तत्परता अपेक्षित होती है, करुणा नीति में बाधक केवल शिथिलता और प्रमाद में ही बन सकती है।

इस पर डा. (श्रीमती) सरल झिंगरन ने कहा कि करुणा स्वयं भी एक नैतिक भाव है।

डा. श्रीवास्तव ने इस बात को छोड़ते हुए करुणा के नीति-विरुद्ध होने के सम्बन्ध में दूसरा तर्क दिया कि करुणा में एक प्रकार का अहंकार भी है। करुणा करने वाला अपने को उच्च और करुणा-विषय को निम्नतर स्थिति में समझता है। यह नैतिकता की अवधारणा के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त, करुणा निष्कामता के भी विपरीत है।

इनमें प्रथम पर किसी ने कहा कि 'करुणा' और 'दया' एक ही बात नहीं हैं और गुरु-लघु का प्रश्न दया में उठता है।

इस पर मैंने कहा कि 'मनोभाव' के स्तर पर करुणा में दया भी सम्मिलित है, किन्तु इसमें गुरु-लघु की कोई बात नहीं है। इसमें केवल अन्य की स्थिति के प्रति आर्द्र होने की बात भी हो सकती है। गुरु-लघु का भाव होने पर वास्तव में करुणा नहीं होती।

इसके बाद दयाजी ने करुणा और नैतिकता के सम्बन्ध के एक-दूसरे आयाम—संस्थात्मक कर्म—की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि हमारे देश में निर्णयों में वैयक्तिक और संस्थात्मक भूमिकाओं को प्रायः ही व्यामिश्रित कर दिया जाता है। व्यक्तिगत रूप से हम किसी के प्रति करुण या उदार हो सकते हैं किन्तु किसी संस्था के अधिकारी के रूप में वह नहीं हो सकते। उदाहरणतः किसी को सेवा से निकालने का निर्णय लेते समय हम प्रायः ही सोचने लगते हैं कि इससे इसके परिवार का क्या होगा, यह आदमी भूखा मरेगा उचित रूप से ऐसे विचार यहां अप्रासंगिक हैं। किन्तु हमारे देश में प्रायः ही व्यवहार इसी प्रकार होता है।

एक बात उन्होंने और हमारे जातीय स्वभाव के सम्बन्ध में कही। उन्होंने कहा कि वाल्मीकि ने क्रौंच-वध देखकर काव्य-रचना तो कर दी किन्तु जीवों पर क्रूरता रोकने के लिए कोई संगठन बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया।

अन्त में डा. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर ने डा श्रीवास्तव के विचार का प्रसंग पुनः उठाते हुए कहा कि नीति के वास्तव में कई पक्ष हो सकते हैं। सामाजिक व्यवहारगत आचरण उसका एक पक्ष है किन्तु आत्मपूर्णता की साधना उसका दूसरा पक्ष है, और बहुतों ने इस दूसरे पक्ष को ही नैतिकता का वास्तविक सन्दर्भ माना है। अब नैतिकता के इस अर्थ में करुणा नैतिक भाव की एक अनिवार्य घटक हो जाती है।

यशदेव शल्य

हर्षनारायणजी की 'करुणा'

'करुणा' पर हर्षनारायण जी का लेख पढ़ा। इस लेख के सम्बन्ध में पाठक की कठिनाई यह है कि यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती कि हर्षनारायण जी का प्रमुख कथ्य क्या है। शीर्षक से लगता है कि वे 'करुणा' के विषय में लिख रहे हैं, परन्तु प्रथम परिच्छेद से लगता है कि वे संस्कृति तथा उसकी उत्कृष्टता के विषय में कुछ बता रहे हैं. आगे पढ़ने पर पता चलता है कि मोक्ष तथा उससे भिन्न धर्म के जो सोपान हैं उनसे सम्बन्धित मानवीय गुण एवं क्षमताएँ क्या हैं यह बताना उन्हें अभिप्रेत है।

ऐसा नहीं कि इन विषयों पर एक ही सन्दर्भ में बात नहीं की जा सकती। परन्तु केन्द्र तथा परिधि, मूल कथ्य तथा उसकी पुष्टि, यदि स्पष्ट न हो सकें तब तो सम्प्रेषण सफल नहीं होता।

'करुणा' शब्द का प्रचलन उसमें समाहित किन वैचारिक अवधारणाओं का संकेत करता है, क्या उसे धर्म अथवा किसी नैतिक विचार-तन्त्र से तार्किक रूप में सम्बद्ध दिखाया जा सकता है? मानवीय मूल्यों में करुणा की अवधारणा को, किसी व्यवस्थित संयोजना की संरचना में किसी रूप में सहायक माना जा सकता है? यदि इन प्रश्नों में से किसी का समाधान लेख से मिलता तो वह उस पाठक के लिये बड़े महत्त्व का होता जिसकी रुचि दर्शन में है।

हर्षनारयण जी के लेख में दो वैकल्पिक नैतिकताओं में परस्पर तनाव के दर्शन तो होते हैं परन्तु उनका रूप प्रखर होकर सामने नहीं आता। इनमें नैतिकता का एक तो वह रूप है जो मानवीय पूर्णता के आदर्श से प्रभावित और संचालित होता है। उस सन्दर्भ में

करुणा एक ऐसे मानवीय गुण अथवा क्षमता का परिचायक मानी जा सकती है जो एक ओर आत्मा के सद् रूप को चरितार्थ करती है तो दूसरी ओर वह अन्य व्यक्तियों के सद्-व्यवहार के रूप में क्रियान्वित होती है ।

नैतिकता का दूसरा रूप है जो सदसद् विवेक, कर्म तथा उसके फल के भोग, न्याय-अन्याय की अवधारणाओं से सम्बद्ध है । इस विकल्प में व्यक्तियों की समता, कर्म का उत्तर-दायित्व, तथा अपने किये के फल को भुगतना—समाहित हैं । सतही तौर से लगता है कि इस विकल्प में करुणा के लिए कोई स्थान नहीं है । हर्षनारायण जी ने जैन सन्दर्भ से करुणा के सदोष होने का जो उल्लेख किया है उसे इसी सन्दर्भ में समझा जा सकता है ।

यहां नैतिकता के केवल दो ही वैकल्पिक रूपों की बात की गई है, परन्तु नैतिकता के अनेक वैकल्पिक रूप हो सकते हैं, जिससे नैतिकता-दर्शन अथवा नीति-दर्शन के इतिहास के विद्यार्थी भली-भांति परिचित हैं । फलतः ऐसी संभावना के स्वरूप-अन्वेषण एवं रूपायन की बात सार्थक होगी जिसमें करुणा तथा न्याय की उद्भावनाओं को संगत एवं समन्वित रूप में प्रस्तुत किया जा सके ।

लेख के अन्तिम भाग में बोधिसत्त्व की संकल्पना को लोक-संग्रह की संकल्पना का पूर्वगामी बताया गया है । लोकसंग्रह की संकल्पना जिस प्रकार नैतिकता के एक विशिष्ट स्तर से जुड़ती है बोधिसत्त्व की संकल्पना महाकरुणा से उत्प्रेरित एक ऐसे स्तर से जुड़ती है जो एक दृष्टि से अतिमानवीय है । किसी साधारण मनुष्य के लिये अपने लिये इस प्रकार का आदर्श चुनना सूक्ष्म दर्प का परिचायक होगा । बुद्ध का महायानी संदर्भ, जो अब एक ऐति-हासिक कथा की चीज़ नहीं अपितु श्रद्धा एवं आराधना का विषय है, एक प्रकार से अति-मानवीय स्तर का परिचायक है । परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस अतिमानवीय स्तर पर लोकसंग्रह की संकल्पना क्या स्तरों में वैचारिक व्यामिश्र तो उत्पन्न नहीं करती ?

यदि हर्षनारायण जी इस अत्यन्त संक्षिप्त टिप्पणी में उठाये गये प्रश्नों में से किन्हीं पर अपना सम्यक् एवं युक्तियुक्त मत प्रकाशित करें तो मेरे जैसे दर्शन के विद्यार्थी को एक दिशा मिलेगी ।

—राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
जयपुर

श्रीहर्ष–प्रणीत खण्डनखण्डखाद्य का विशद हिन्दी–अनुवाद

गतांक से आगे

स्यात् एतत्। नियत वाक्–व्यवहार क्रिया–समय बन्धेन कथां प्रवर्तयता अपि व्यवहार–सत्ता अभ्युपगन्तव्या। न हि सत्तां अन्–अभ्युपगम्य व्यवहार–क्रिया अभिधातुं शक्या। क्रिया हि निष्पादना, असतः सत्-रूपता–प्रापणं इति यावत्। प्रमाणैः व्यवहर्तव्यं इति नियत–बन्धनं प्रमाण–कारण भावस्य नियम–अन्तर्भावात् नियत-पूर्वसत्त्वं कारणत्वं प्रमाणानां अन्-आदाय न पर्यवस्यति। दूषणानां च अस्तित्वेन भंग–अवधारण-नियम-बन्धने साधन-अंग-व्याप्त्यादीनां सत्वेन तद्–विषयस्य तत्त्व-रूपता-व्यवहार–नियमनादौ च कंठ-उक्तं एवं तस्य तस्य सत्वं अंगीकृत्य इति रिक्तं इदं उच्यते–'प्रमाणादीनां सत्तां अन्-अभ्युपगम्य कथा–आरंभः शक्यते' इति। मा एवम्। एभि अपि बाधकैः कथायां आरब्धायां एवं अभिमतस्य साधनीयत्व पूर्वोक्त बाधायाः अनिस्तारात्।

अब प्रतिपक्षी वेदान्ती के द्वारा व्यवहार की सत्ता मनवाने के लिये एक नया तर्क उपस्थित करता है। वह कहता है कि वादविवाद रूप व्यवहार-संबंधी नियमबद्ध क्रिया के बारे में संकेत निर्धारित कर वाद-विवाद चलाने वाले (वेदान्ती) को भी इस व्यवहार की सत्ता स्वीकार करना आवश्यक ही है। व्यवहार की सत्ता माने बिना व्यवहार-रूप क्रिया का निर्देश करना संभव नहीं। क्रिया उत्पादन-व्यापार है। यह असत् को सत् रूप में लाने की प्रक्रिया है। प्रमाणों के द्वारा व्यवहार करना चाहिये, ऐसे नियम का स्वीकार प्रमाणों की कार्य-नियत पूर्व सत्त्व-रूप कारणता का स्वीकार किये बिना संभव नहीं होगा क्योंकि नियम में कारणता अन्तर्भूत है। इसी प्रकार हेत्वाभासों की सत्ता किसी पक्ष में उपलब्ध होने पर उस पक्ष के पुरस्कर्त्ता का पराजय नियमतः स्वीकार करना और जिस पक्ष में साधक व्याप्त्यादि उपलब्ध हो उस पक्ष का विजय स्वीकार करना ये बातें समय बंधन में ही समाविष्ट हैं। इन्हें माने बिना गत्यंतर नहीं और जो इन्हें स्वीकार करता है उसका यह कहना कि प्रमाणादि की सत्ता स्वीकार किये बिना ही वादविवाद चलाया जाना कोई मतलब नहीं रखता। प्रतिपक्षी के इस प्रतिवाद पर वेदान्ती कहता है कि यदि किसी न किसी वादविवाद में ही

व्यवहारादि की सत्ता उक्त तर्क से साधनीय हो तो इस वादविवाद के जैसे ही अन्य वादविवाद भी व्यवहार-सत्ता को माने बिना चलाये जा सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि वादविवाद के लिये जिन नियमों का स्वीकार आवश्यक है वे सत्ता-नियम नियतपूर्व सत्त्वरूप-कारणत्व से घटित हैं। अतः नियमों को मानने वाला इन के स्वीकार को टाल नहीं सकता। इस पर वेदान्ती का उत्तर है कि नियमों की स्वीकृति वादविवाद से ही निर्धारित हो तो जिस वादविवाद से यह निर्धारण होगा वह तो इस स्वीकृति पर आधारित नहीं होगा। तब अन्य वाद-विवाद भी ऐसे ही हो सकते हैं।

न च व्यवहार–नियमस्य स्व-इच्छा स्वीकृतस्य एव प्रमाणादि-सत्ता-स्वीकार–पर्यवसायितया न अयं दोषः स्यात् ? यतः सत्ता-ज्ञानस्य तत्र अंगत्वं न तु सत्तायाः। तत्र किं सत्त्व-अभ्युपगम-मात्रात् सत्ता–अभ्युपगम्या इति मन्यसे अबाधितात् तद्–अवगमात् वा ? न तावत् आद्यः। मरु–मरीचिकादौ जल-रूपता–सद्-भाव–अभ्युपगम–प्रसंगात्। द्वितीये अपि किं प्रतिवादि–मध्यस्थ–मात्रस्य, तस्य अपि कथा-काल मात्रे एव बाधित अवगम–अभावात् अथवा कस्यचित् अपि काल-अन्तरे अपि च बाधित–बोध–विरहात् ? न आद्यः, अति प्रसंगात्। पुरुष-त्रय-अवगतस्य अपि, एक–क्षण–अवगतस्य पुरुष–अन्तरेण, तेन–अपि क्षणे–अन्तरे बहुलं बाध्यत्व–दर्शनात्। न च असौ अर्थः असत्यः अपि द्वित्रादि पुरुष मात्र पूर्व जात तत प्रतीति–अनुरोधात्, बाध–दर्शन संजाते अपि तथा एव सन् इति अभ्युपगम्यते। तस्मात् द्वितीयः पक्षः परिशिष्यते–यत्र सर्व प्रकारेण बाधितत्वं न अस्ति तत् सत् इति अभ्युपगन्तव्यम्।

वेदान्ती के प्रतिवाद पर प्रतिपक्षी कहता है कि वाद-विवाद-व्यवहार के नियम भी वाद-विवाद से ही प्रस्थापनीय नहीं होते। स्वेच्छा से ही दोनों वादी इनका पुरस्कार कर वाद-विवाद में प्रवृत्त होते हैं। इन नियमों को स्वीकार करने पर पीछे बताये अनुसार प्रमाणादि की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। इस अनिवार्य स्वीकृति में वेदान्ती की बतायी बाधा नहीं आ सकती। इस पर वेदान्ती उत्तर देता है कि व्यवहार-नियम के स्वीकार का अंग प्रमाणादि सत्ता न होकर उसका ज्ञान ही है। अब पूछ सकते हैं कि क्या सत्ता के ज्ञान के घटित होने की बात से ही सत्ता की स्वीकृति आपादित होती है ऐसा मान लिया जाय या कि अबाधित सत्ता-ज्ञान पर से सत्ता की स्वीकृति आपादित मानी जाए ? पहला विकल्प स्वीकारार्ह नहीं हो सकता क्योंकि मृगतृष्णा-जल में जल की सत्ता का आभास होने से वहां भी जल की सत्ता स्वीकार करना आवश्यक हो जायगा। दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर यह स्पष्ट करना होगा कि क्या वादी, प्रतिवादी तथा मध्यस्थ इन तीनों के ही और वाद-विवाद कालिक ही अबाधित सत्ता-ज्ञान से सत्ता आपादित होती है अथवा किसी को भी किसी भी समय बाधित सत्ता-ज्ञान न होने पर ही सत्ता आपादित होती है ? इन दो विकल्पों में पहला सही नहीं हो सकता। वादी, प्रतिवादी तथा मध्यस्थ इन तीनों को जो बात सही जँचे वह अन्य को भ्रान्त लग सकती है। ऐसे ही एक ही व्यक्ति को एक समय जो बात सत्य प्रतीत हुई वह (कई बार) अन्य समय असत्य प्रतीत हो सकती है। किन्तु क्या कोई असत्य बात कुछ लोगों को

कभी सत्य प्रतीत होने पर सत्य मान ली जाती है ? अतः पूर्वोक्त द्वितीय विकल्पान्तर्गत द्वितीय विकल्प ही शेष रह जाता है और वह यह है कि जो बात सब तरह अबाधित हो वही सत् माननी चाहिये।

तत् इत्थं यदि नाम वादि-प्रतिवादि-मध्यस्थ मात्रस्य दूषणादि-सत्ता-अवगमः कथा-काल मात्रे तैः अबाध्यमानः कथा-अंगत्वेन अभ्युपेयते तदा किं आयातं सर्व प्रकार-अबाधित तत्-सत्त्व-अवगम-आयत्त तत् सत्ता-अभ्युपगम कथा-अंगता-अन्-अंगीकारस्य ? कतिपय-प्रतिपत्तृ-कतिपय-काल-तथात्व-अवगमात् एव प्रायेण लौकिकः व्यवहारः प्रतीयते। तादृशः च अयं सत्त्व-अवगमः कथा-अंगम्। एतत् तत्-उच्यते 'व्यावहारिकीं प्रमाणादि-सत्तां आदाय विचार-आरंभः इति। तस्मात् 'यादृक व्यवहार-नियमः कृतः तत्-मर्यादा अनेन न उल्लंघिता' इति यद् वादि-वाक् व्यवहार मध्यस्थः अवगमः सः विजयते, यस्य तु वचसि न एवं तस्य अवगमः तस्य पराजयः। यत्र वादि-उक्त-निग्रह-सत्त्व-अवगमः सः निगृहीतः, तत्-इतरः तु न तथा इत्यादि नियमः एवं कथा-आरंभाय ग्राह्यः।

पूर्वोक्त पूर्ण अबाधितत्व असर्वज्ञ व्यक्ति नहीं जान सकता अतः वादी, प्रतिवादी तथा मध्यस्थ इन तीनों को ही और उन्हें भी वाद-विवाद के समय ही होने वाली हेत्वाभासादि की सत्ता का अबाधित ज्ञान वाद-विवाद के लिये कारण मानना हो तो पूर्णतया अबाधित उक्त सत्ता के ज्ञान से आपादनीय उक्त सत्ता को वाद-विवाद का कारण या अंग मानने की बात दूर ही रह जाती है। सभी लौकिक सत्त्व-व्यवहार कुछ लोगों के कुछ समय के सत्त्व-ज्ञान से ही निष्पादित हुआ करते हैं। व्यवहार-सत्ता का ज्ञान भी इसी प्रकार का प्रतीत होता है। इसी लिये कहा जाता है कि प्रमाणादि की व्यावहारिक सत्ता का पुरस्कार कर ही वाद-विवाद चलाना चाहिये। व्यावहारिक सत्ता के पुरस्कार का मतलब यह है कि जो व्यवहार-नियम बनाया गया उसका इसने उल्लंघन नहीं किया, ऐसी जिस वादी के कथन के संबंध में मध्यस्थ को प्रतीति हो वह वादी विजयी, उससे अन्य पराजित, तथा जिसके कथन में मध्यस्थ को निग्रहस्थान भूत दोष प्रतीत हो वह निग्राह्य तथा उससे अन्य अनिग्राह्य ऐसे वाद-विवाद के नियम मानकर ही वाद-विवाद चलाना चाहिये।

'अनेन नियमेन वक्तव्यम्' इति अस्य अयं अर्थः, 'अनेन नियमेन उक्तं अनेन इति मध्यस्थ अवगमस्य विषयी भवितव्यं इति। न च वाक्यं अन्ततः तत्-अवगमस्य अपि सत्ता अभ्युपेया इति। तस्य अपि सत्ता-चिन्तायां तत्-सत्ता-अवगम-अन्तरस्य एव शरणत्वात् न च एवं अनवस्था। तत्-अनुसरण-अवश्यंभाव-अन्-अंगीकारात् एवं 'त्रि-चतुर्-ज्ञान-जन्मनः न अधिका मतिः' इति न्यायात्। न च अन्तिम असत्त्वे पूर्व प्रवाह-असत्त्व-आपत्तिः, तथा च अवगमं आदाय अपि व्यवहरतः न निस्तारः इति वाच्यम्। अस्तु एवं हि। तथा अपि त्रि-चतुरो-ज्ञान-कक्षा-गवेषण-विश्रान्तेन ततः परं अन्-अनुसरण-रमणीयेन एव च समय बद्ध्वा कथायां मिथः संप्रतिपत्त्या प्रवर्तनात्।

उक्त स्पष्टीकरण से प्रमाणादि-सत्ता के स्वीकार की वाद-विवाद चलाने के लिये आवश्यकता नहीं, यह बात सिद्ध हुई। किन्तु समय-बांध के स्वीकार से उसकी सत्ता का

स्वीकार तो अनिवार्य होगा ही, इस संभाव्य आपत्ति पर वेदान्ती समय-बंध के अर्थ को अब विशद कर रहा है। 'इस नियम के अनुसार इस वादी को अपने वक्तव्य का कथन करना चाहिये', इस समय-बंध का अर्थ यह है कि 'इस नियम के अनुसार इसने कथन किया' इस प्रकार के मध्यस्थ व्यक्ति के ग्रह का विषय वादी को होना चाहिये। इस पर यह प्रतिवाद ठीक नहीं होगा कि अंततोगत्वा मध्यस्थ के उक्त अवगम की सत्ता तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी। अवगम की सत्ता के व्यवहारार्थ अवगम-सत्ता के अवगम की सत्ता ली जा सकती है। किन्तु इससे अनवस्था की आपत्ति की संभावना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि एक के बाद एक ऐसे अवगमों की परंपरा का स्वीकार करने की आवश्यकता ही उत्पन्न नहीं होती। यह बात भट्टाचार्य कुमारिल ने स्पष्टतया कह डाली है। उनके कथनानुसार दो-तीन ज्ञान-विषयक ज्ञानों के आगे ज्ञान-परंपरा के विस्तार की जरूरत नहीं पड़ती। यदि किसी ज्ञान, ज्ञान-ज्ञान, ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान के संबंध में कोई वास्तविक संदेह हो तभी उसके निराकरणार्थ संदिग्ध सत्ता के ज्ञान के ज्ञान की आवश्यकता उत्पन्न होगी अन्यथा नहीं। इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि ज्ञान-परंपरान्तर्भूत जिस ज्ञान का ज्ञान न हो वह ज्ञान अव्यवहार्य होने से उसकी सत्ता भी नहीं होगी और तब उस ज्ञान के विषय, इस विषयभूत ज्ञान के विषय, इस क्रम से सभी ज्ञान असत् हो जायेंगे। वेदान्ती का इस आक्षेप का समाधान यही है कि सयम-बंध के लिये ज्ञान-परंपरा को तीन-चार ज्ञानों के आगे बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। दोनों वादियों को आपस में इसी प्रकार नियम निर्धारण कर विचार चलाना होगा। अन्य प्रकार से विचार चलाना संभव ही नहीं है। यह बात अगले परिच्छेद में विशद की जा रही है।

अन्यथा प्रमाणादि-सत्त्व-अभ्युपगमे-अपि ज्ञान-अनवस्थायाः दुः-परिहरत्वात् न च वाच्यं मत्-पक्षे स्वरूप-सत्ता-ज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थयितुं शक्यत्वात् तद्-ज्ञान-परंपरा अन्-अनुसरणं उचितम्। न तु एवं त्वत् पक्षे स्वरूप-सत्ता-ज्ञानेन चरित-अर्थता, ज्ञान-स्वरूप-सत्त्व-अंगीकार-प्रसंगात्। स्वरूप-सत्त्वं-आदाय अपि परिहरतः अनवस्था-प्रसंगस्य स्वप्रकाश-प्रस्तावे वक्तव्यात्। यथा च त्वत्-पक्षे स्वरूप-सत्त्व-अविशेष अपि विज्ञान-स्वरूप-सत्ता एव परं व्यवहार-उपपादिका न घटादि-सत्ता, एवं एव असत्व-अविशेषे अपि ज्ञानं एव असत्-व्यवहार-उपपादकं, न अन्यत्। असत् च उपपादकं च इति व्याहतं इति चेत्? न। सत् उपपादकं इति कृतः न व्याहतम्? न हि सत् उपपादकं असत् न इति क्वचित् आवयोः सिद्धम्। ननु तत्-असत्व-अविशेषात् कार्यस्य अन्यदा अपि जन्म-प्रसंगः?

यदि ज्ञान-परंपरा का अनन्त विस्तार अनिवार्य माना जाय तो प्रमाणादि की सत्ता मान लेने पर भी ज्ञान-विषयक ज्ञानों के स्वीकार से उत्पन्न होने वाली अनवस्था को टाला नहीं जा सकता। इस पर यह प्रत्याख्यान उचित नहीं कि प्रतिपक्षी तो ज्ञान की स्वरूप-सत्ता मानता है अतः उसे ज्ञान-सत्ता के व्यवहारार्थ ज्ञान-ज्ञान का स्वीकार आवश्यक नहीं, किन्तु वेदान्ती के लिये यह संभव नहीं, क्योंकि वह न तो प्रमाणादि की सत्ता स्वीकार करता है न उसके ज्ञान की, अतः उसे एक के बाद एक नये-नये ज्ञानों की परंपरा स्वीकार करनी ही पड़ेगी। ज्ञान की स्वप्रकाशता के विचार के संदर्भ में आगे यह बात स्पष्ट की जाने वाली

है कि ज्ञान को अज्ञात माना जाय तो उसकी स्वरूप-सत्ता भी अस्वीकार्य हो सकती है। अतः ज्ञान को स्वरूप-सत् मान कर भी काम नहीं चल सकता। इस कारण यह मानना होगा कि जैसे प्रतिपक्षी के लिये घटादि तथा उनके ज्ञान ये सभी स्वरूप-सत् होने पर ज्ञान ही स्वविषय वस्तु-सत्ता के व्यवहार का उपपादक होता है (वस्तु अपने व्यवहार का उपपादन नहीं होती) वैसे ही वेदान्ती के मन में ज्ञान असत् होने पर भी वही सत्ता-व्यवहार का उपपादक होता है। यदि कहें कि जो असत् है वह उपपादक कैसे हो? तो उस पर प्रतिप्रश्न होगा कि 'सत् उपपादक होता है' यह भी क्यों माना जाय? सत् उपपादक होता है असत् नहीं, यह बात तो किसी विचार-गोष्ठी में सिद्ध नहीं हुई है। पुनः प्रश्न हो सकता है कि यदि असत् भी उपपादक हो तो उपपादक या उपपत्ति-कारण असत् होने से किसी भी समय इस असत्-कारण का कार्य क्यों उत्पन्न नहीं होता?

न कार्यस्य आद्य-सत्ता-क्षणे इव अन्यदा अपि सामग्री-असत्त्व-अविशेषात् तव अपि किं न कार्य जन्म? अथ न मम तदानीतेन सामग्री-असत्त्वं तदानीतेनस्य कार्य-जन्मनः नियामकम्। किन्तु ततः प्राक् सामग्री-सत्त्वं, तथा दर्शनात्। तर्हि मम अपि काल-अन्तरस्थं अपि तत्-असत्वं तदातन कार्य-जन्मनः नियामके, तथा-दर्शनात् एव। मम तु तत्-अव्यवहित-उत्तरत्वं तदा कार्य-जन्मनः नियामकं इति चेत् १. न। सम-समयत्वात् आगन्तुकत्वात् च अविशेषेण नियम्य-नियामक-व्यवस्था अनुपपत्तेः।

उपर्युक्त प्रश्न पर प्रतिप्रश्न यह हो सकता है कि किसी भी कार्य के उत्पत्ति-क्षण में (पूर्वक्षण में नहीं) उस कार्य की सामग्री (जिसमें कार्य का प्रागभाव समाविष्ट है और वह कार्योत्पत्ति- क्षण में नष्ट हो जाता है) विद्यमान न होने पर भी जैसे उस क्षण में कार्य उत्पन्न होता है वैसे ही अन्य अनेक क्षणों में भी यह सामग्री अविद्यमान होती है तब इन अन्य क्षणों में कार्य क्यों नहीं उत्पन्न होता? यदि इस प्रश्न का उत्तर यह हो कि सामग्री की असत्ता कार्य-जनक नहीं है, किन्तु कार्योत्पत्ति के पूर्व क्षण में विनाशवान् सामग्री की सत्ता ही कार्य-जनक है तो वेदान्ती भी पूर्वोक्त प्रश्न पर यह उत्तर दे सकता है कि सामग्री अन्य समयों में अविद्यमान भले ही हो किन्तु कार्योत्पत्ति-पूर्व क्षण में जो उसकी अविद्यमानता या असत्ता है वही कार्योत्पत्ति-नियामक है क्योंकि यही बात अनुभवगोचर है। प्रतिपक्षी इस पर पुनः प्रतिवाद कर सकता है कि कार्योत्पत्ति-क्षण में सामग्री के अव्यवहित रूप से अनन्तर होना ही कार्योत्पत्ति का नियामक है और यह कार्योत्पत्ति-क्षण से भिन्न पूर्वक्षण में नहीं होता। वेदान्ती पूर्व क्षणगत असत्ता को ही कार्योत्पाद-नियामक मानता है जो ठीक नहीं है। इस पर वेदान्ती का प्रत्युत्तर यह है कि कार्योत्पत्ति और उसका नियामक यह (कथाकथित) अनन्तरत्व एक ही क्षण में अवस्थित होते हैं। अतः इनके बीच नियम्य-नियामकभाव वैसे ही नहीं होगा जैसे गाय के समकालीन दायें-बायें सींग के बीच नियम्य-नियामक-भाव नहीं होता। यही नहीं, यह उत्तरत्व कार्योत्पत्ति के लिये आगंतुक या अनावश्यक बात है। उसकी उत्पादनियामकता न अनुभव-गोचर है न तर्कसिद्ध।

तस्मात् अन्यदा स्थाया एव सामग्र्याः तदा कार्य–जन्म–नियमः अभ्युपेयः तथा इत्येव वाच्यम्। तथा च समः समाधिः। तथा अपि कार्य–जन्य–कालस्य कः विशेषः? कार्य–जन्म एव। अन्यथा यत् विशेष अन्तरं तत् अपि विशेष अन्तरवतः कालस्य स्यात् इति अपर्यवसानं एव पर्यवस्येत्। तथा अपि तत्-कालस्य अनुगतं किं रूपं इति चेत्? न। रूप-अन्तरवतः अपि किं तत्? इत्यस्य अपि पर्यनुयोगस्य आपत्तेः।

उक्त कारणों से यह मानना आवश्यक है कि सामग्री कार्योत्पत्ति-क्षण से भिन्न (पूर्व) क्षण में विद्यमान हो कर ही कार्योत्पत्ति का नियमन करती है। यदि ऐसी ही बात है तो सामग्री की कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में असत्ता को (वेदान्त-मतानुसार) भी उत्पत्ति-क्षण में कार्योत्पत्ति-नियामक मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि कोई पूछे कि कार्योत्पत्ति-क्षण की विशेषता सामग्री के उत्तरकाल में होने के सिवा और क्या हो सकती है? तो उसका सीधा उत्तर है 'कार्योत्पत्ति', क्योंकि कार्योत्पत्ति ही इस क्षण में घटित होती है। यदि उक्त अनंतरत्व या उत्तरत्व को ही उत्पत्ति-क्षण की विशेषता माना जाय तो इस विशेषता की विशेषता क्या है, यह भी प्रश्न हो सकता है। जो कोई विशेषता इसके उत्तर में निर्दिष्ट की जायगी उसके संबंध में इसी प्रश्न की पुनरावृत्ति की जाये तो अनवस्था ही होगी। यदि अन्य क्षणों में कार्य-जन्म-क्षण को अलगाने का प्रश्न हो (जो सामग्री के उत्तार-काल में होने रूप धर्म के द्वारा ही प्रतिपक्षी संभव मानता है) तो एतदर्थ जिस धर्म का निर्देश किया जायगा उस धर्म को भी अन्य धर्मों से अलगाने का प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इस कारण कार्योत्पत्ति को ही कार्योत्पत्ति-क्षण का नियामक धर्म या विशेष मानना उचित होगा।

किं च—अन्तर्भावित-सत्त्वं चेत् कारणम्? तत् असत् ततः।
न अन्तर्भावित-सत्त्वं चेत् कारणम्? तत् असत् ततः॥
तथा हि अन्तर्भूत-सत्त्वं यदि कारणत्वं तदा स्व–विशिष्टे स्ववृत्तिः अंशतः स्व आश्रयत्वं आपादयति।

अबतक वेदान्ती ने असत् की कारणता का समर्थन किया। अब वह सत् की कारणता का खंडन करने जा रहा है। वह कहता है कि कारण के लक्षण में कारण के विशेषण के रूप में सत्ता का समावेश हो तो सत्ता-गर्भित कारण में सत्ता का विद्यमान होना संभव न होने से कारण को असत् मानना होगा। यदि सत्ता कारण का विशेषण न होकर उपलक्षण ही हो तो भी कारण असत् होगा। एक अन्य प्रकार से भी असत् को कारण सिद्ध किया जा सकता है। वह यह है कि यदि स्वयं सत्ता-रहित सत्ता कारण हो तो असत् सत्ता कारण हो जाती है। यदि सत्ता कारण ही न हो तो उसके द्वारा किसी भी वस्तु के संबंध में सदाकार प्रतीति नहीं हो पायेगी और तब सब पदार्थों को असत् मानना पड़ जायेगा।

कारिका के अर्थ को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि कारणता के लक्षण में सत्ता का अन्तर्भाव हो तो कारणता में सत्ता नहीं रह सकती क्योंकि ऐसा मानना सत्ता में सत्ता की अवस्थिति मानने जैसा होगा। अतः वह असत् ही होगी। यदि सत्ता का अन्तर्भाव

कारणता में न हो तो कारणता स्वयं असत् हो जायेगी। इस प्रकार दोनों तरह असत् को कारण मानना अनिवार्य हो जाता है।

विशिष्टस्य अर्थ-अन्तरत्वे अपि च स्वस्मिन् स्व-वृत्ति-व्यतिरेकवत् स्व-विशिष्टे स्व-वृत्ति-व्यतिरेक-नियम-दर्शनात् न सा एव सत्ता तस्मिन् इति। अन्यस्य विशिष्ट-वृत्तिता अभ्युपगमे तां अनिवेश्य कारणत्वं अभ्युपगन्तुः सर्वथा एव असत् कारणं पर्यवस्यति। अपरापर सत्ता-निवेशने च अपर्यवसानं एव।

सत्ता-विशिष्ट कारणता शुद्ध सत्ता से भिन्न होने पर भी जैसे कोई धर्म अपने पर ही अवस्थित नहीं होता वैसे ही स्वविशिष्ट में भी स्व की अवस्थिति नहीं होती, अतः सत्ता-विशिष्ट में सत्ता नहीं रह सकती। यदि भिन्न-भिन्न सत्तायें मानकर एक सत्ता से विशिष्ट में अन्य सत्ता को अवस्थित समझें तो इस द्वितीय सत्ता का प्रथम विशिष्ट में अन्तर्भाव न होने से इस विशिष्ट को भी असत् ही समझना होगा। यदि द्वितीय का भी विशिष्ट में अन्तर्भाव मानें तो एक तृतीय सत्ता को स्वीकार कर उसे विशिष्ट में वृत्तिमान् मानना होगा। किन्तु इस तृतीय सत्ता की सापेक्षता से विशिष्ट पुनः असत् ही हो जायेगा।

न च सत्ता-भेद-आनंत्यं अस्ति एव इति पाद-प्रसारिका निस्ताराय। सत्ता-भेदे अपि हि सत्-बुद्धि-व्यवहार-अनुगम-समर्थन-लंघिनः प्रथमा अपि सत्ता न स्यात् इति बुद्धि इच्छतः मूलः अपि ते नष्टं इति हा कष्टतरम्! न च स्वरूपसत्ता-उपगमाय स्वस्ति! भिन्नान् अपि अनुगत-बुद्धि-आधान-पदे अभिषिंचता त्वया हि जाति-मात्राय जल-अंजलि वितीर्येत। 'मा भूत अनुगतिः स्वरूप-सत्त्वस्य? इति च वदन् तत्-गर्भिणीं कारणतां कथं अनुगमयितासि इति ?

अनेकानेक सत्तायें स्वीकार कर पूर्वोक्त अनवस्था-दोष का परिहार संभव है, ऐसा प्रतिपक्षी कह रहा है, किन्तु इससे काम नहीं चल सकता ऐसा वेदांती का प्रतिवाद है। प्रतिपक्षी का उक्त कथन संकुचित स्थान में पैर फैलाने के प्रयास के समान है। (यह स्थान इतना संकुचित है कि वहां पैर फैलाने की गुंजाइश ही नहीं है।) अनगिनत सत्तायें मानने पर भी इनमें से हरेक को स्वयं ही स्ववृत्ति सत्ता के बिना ही प्रतिपक्षी सत् मानता है। सत्ता का जो कार्य : अनुगत सत्-बुद्धि का निर्माण करना—है उसके संपन्न हुए बिना ही यदि एक के बाद एक नयी-सत्ताओं का स्वीकार करना ही तर्क-संगत हो तो दंडादि वस्तुगत प्रथम सत्ता के स्वीकार की भी क्या आवश्यकता रह जायगी ? विभिन्न वस्तुओं के संबंध में सामान्य सद्व्यवहार हुआ करता है, उसके उपपादनार्थ ही सत्ता का स्वीकार किया जाता है। यदि सत्ता-स्वीकार का यह प्रयोजन ही न हो तो प्रथम सत्ता-स्वीकर भी निरर्थक हो जायगा। इस प्रकार सत् की अपेक्षा करने वाले का मूल नष्ट भी हो जाने की नौबत पैदा हो जाती है। (प्रथम सत्ता मूल धन और उसके कारण स्वीकार्य अन्यान्य सत्तायें इस धन का सूद हैं।) यदि सभी सत्ताओं में विद्यमान एक ही सत्ता मान लें तो इस एक सत्ता में कोई सत्ता विद्यमान न होने से वह असत् हो जायगी। इस असत् सत्ता के द्वारा किसी भी वस्तु के संबंध में सत्-व्यवहार कैसे हो पायेगा ? इस पर यह समाधान हो सकता है कि सत्-व्यवहार के लिये पदार्थों में विद्यमान एक भिन्न सत्ता-रूप धर्म की आवश्यकता नहीं है। वस्तु-स्वरूप सत्ता, जिसे 'स्वरूप-सत्ता' कहा जाता है, वही अनुगत

सत्-व्यवहार की उपपादक हो सकती है। किन्तु ऐसी स्वरूप-सत्ताएं उतनी ही होंगी जितनी विभिन्न वस्तुएं हैं। इन प्रतिव्यक्ति विद्यमान् सत्ताओं के द्वारा ही अनुगत सत्-बुद्धि संभव हो तो जाति-पदार्थ के स्वीकार की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। यदि इस पर यह कहा जाय कि विभिन्न स्वरूप-सत्ताओं के अनुगम की कोई कावश्यकता ही नहीं है तो इस पर प्रतिवाद होगा कि सत्ता-घटित कारणता का अनुगत लक्षण ही तब नहीं बन पायेगा।

किं च स्वरूपसत्त्वं स्वरूपात् घटादि आत्मनः न अधिकम्। असतः अपि स्वरूपं स्वरूपं एव। न हि असत् घटादिः न घटादिः तथा सति घटादिः न इत्यपि न स्यात्। असतः अघटादित्वात्। अथ सत् अपि सत्तां अनन्तर्भाव्य कारणम्? तदानीं असत् अपि तत् तथा अस्तु। सत्त्व-असत्त्वयोः कारण-कोटि-अप्रवेश-अविशेषात्। अथ न सत्ता कारण-कोटि-निविष्टा, किन्तु कारणत्वं सत्त्वं; नियत पूर्व-सत्तां हि कारणतां मन्ये इति! मन्यसे? तर्हि मत् पक्षे अपि सा एव कारणतां अस्तु। तर्हि कारणस्य सत्तां अभ्युपगतवान् 'अस्ति इति घट्ट-कुट्यां प्रभातं' इति चेत्? न। भाव-अन्-अवबोधात् सत्तां असतीं अभ्युपगच्छता अपि सत्ता मया अभ्युपगता एव। अन्यथा का असौ असती इति?

उक्त प्रतिवाद को ही आगे बढ़ाते हुए वेदान्ती कहता है कि स्वरूप-सत्ता जिस वस्तु की हो उस वस्तु से भिन्न वह और कुछ नहीं हो सकती। अतः असत् वस्तु की स्वरूप-सत्ता भी असत्-रूप ही होगी। असत् घटादि भी घटादि ही होंगे कुछ अन्य नहीं हो जायेंगे। यदि ऐसा होने लगे तो 'असत् घटादि नहीं है' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि तब असत् कुछ भी नहीं होगा।

इस तरह उपर्युक्त कारिका का विवेचन कर अब उत्तरार्ध के विवेचन की ओर ग्रंथकार बढ़ रहे हैं। कारण के लक्षण में सत्ता का अन्तर्भाव नहीं माना जाय तो जैसे सत् वस्तु कारण समझी जाती है वैसे ही असत्-वस्तु भी कारण समझी जा सकती है। सत्ता या असत्ता का कारणता में सन्निवेश न होने से सत्-असत् दोनों समान रूप से कारण बन सकते हैं। इस पर यह कह सकते हैं कि सत्ता का कारण के लक्षण में प्रवेश नहीं है किन्तु कार्य-नियत पूर्वसत्ता (सत्तारूप सत्ता) ही कारणता है, यदि वेदान्ती यह बात मान ले तो उसे सत्ता माननी पड़ जायगी। इस प्रकार घुमा फिराकर प्रतिपक्षी की बात वेदान्ती को माने बिना गत्यंतर नहीं होगा। यह बात वैसी ही होगी जैसे किसी अवांछित व्यक्ति को टालने के लिए दूर का रास्ता पकड़कर चल पड़े और उसका उस व्यक्ति से अकस्मात् किसी नदी के घाट पर सामना हो जाय।

वेदान्ती इस पर कहता है कि प्रतिपक्षी ने उसका मंतव्य ठीक तरह समझा ही नहीं। सत्ता को असत् मानने वाला भी सत्ता को स्वीकार करता ही है। ऐसा न हो तो वह किसे असत् मानेगा?

त्वं अपि किं सत्तां तत्-सत्तां अन्तर्भाव्य कारणत्वं इच्छसि? न तु एवम्। पूर्ववत् क्व अपि सत्ता-त्यागः वा अनवस्थायां वा पर्यवसानं स्यात्। असत्त्व-

अविशेषात् कारण-नियमः कथं स्थात् इति चेत ? न । सत्त्व-अविशेषे अपि तुल्य-त्वात् । सत्त्वे अस्ति अन्वय-व्यतिरेक-अनुविधानं, तस्य तत् जातीयस्य वा । त्वत्- पक्षे तु असत्व अविशेषात् व्यतिरेकः । परं सः अपि अनियतः । यदा कारण-अभाव तदा कार्य-अभाव-अवश्यंभाव-अनभ्युपगमात् । नित्य असतः कारणस्य असत्त्वे एव कदाचित् कार्य-उत्पादात् । अन्वयः तु न क्वचित् अपि इति चेत् ? न । तुल्यत्वात् ।

प्रतिपक्षी वेदान्ती पूछता है कि क्या वह सत्तान्तर्भावित सत्ता को कारण कहेगा ? यदि हां तो यह सत्ता पीछे विशद किये अनुसार सत्ता-रहित ही होगी । यदि एक सत्ता से विशिष्ट में दूसरी, दूसरी से विशिष्ट में तीसरी ऐसी अनेकानेक सत्तायें वह माने तो पीछे बताये मुताबिक अनवस्था उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी । प्रतिपक्षी इस पर प्रतिप्रश्न करता है कि यदि सब असत् ही हो तो कारणता नियमन कैसे (या किसके द्वारा) हो ? वेदान्ती उत्तर देता है कि यदि सभी सत् हों तो भी कारणता का नियमन करना संभव नहीं है । (कारण सत् है और अकारण भी सत् ही है ।) पुनः प्रश्न यह होगा कि सत्ता (कार्य-कारणादि की) मानने पर कारण या कारण-जातीय पदार्थों के साथ कार्य या कार्य-जातीय पदार्थों का अन्वय-व्यतिरेक-सहचार निर्धारित किया जा सकता है किन्तु असत्वादी केवल कारणाभाव की बात ही कर सकता है । फिर भी वह यह नहीं कह सकता कि कारणाभाव होने पर कार्याभाव अवश्य होगा ही, क्योंकि असत्वादी के अनुसार कारण सदैव अविद्यमान है । अतः कारणाभाव के होते भी कभी-कभी कार्य उत्पन्न होता है ऐसा असद्वादी को कहना होगा । कारण-कार्य के साहचर्य की तो वह बात ही नहीं कर सकता । इस पर वेदान्ती का प्रत्युत्तर यह है कि सत् और असत् दोनों के अन्वय-व्यतिरेक होते हैं और वे एक जैसे ही होते हैं ।

अन्वयः नास्ति इति अभ्युपगच्छतः अपि अन्वय-उपगमात् अन्वयस्य अपि सत्ता-अन्तर्भावने कथित दोष-आपत्तेः । एतेन 'आशा-मोदक-तृप्ताः ये ये च उपार्जित-मोदकाः, रस-वीर्य-विपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते ।' इति अस्य अपि बाधकत्वं आशा-मोदकायते । सत्ता-अन्तर्भाव-अनन्तर्भाविाभ्यां प्रत्यादेशात् । आशा-मोदकादिना अपि च रस-बीर्य-विपाकादि-जननात् । तत् - असत् कथं कार्यं स्यात् इति चेत् ? न । सत्तां अन्तर्भाव्य कार्यत्व-उपगमे कारणवत् कार्यं अपि उक्त दोषस्य अनन्तर्भावे वा अवि- शेषस्य पूर्ववत् आपत्तेः ।

वेदान्ती प्रतिवाद करते हुए कहता है कि असत् का अन्वय (सहचार) नहीं होता ऐसा कथन भी इस अन्वय की सत्ता के अभ्युपगम के बिना संभव नहीं । निषेध्य के रूप में अन्वय को स्वीकार करना ही पड़ता है । यदि कहें कि सत् अन्वय नहीं असत् ही अन्वय है तो अन्वय सत्तान्तर्भावित है या नहीं इन दो विकल्पों को लक्ष्य कर पूर्वोक्त दोष उपस्थित किये जा सकते हैं, और तब उनका उत्तर देना संभव नहीं होगा । तो क्या असत् को कारण मान लिया जाय ? तब तो काल्पनिक मिठाइयां (सपने में) खाने से वे सब परिणाम होने लगेंगे जो वास्तविक मिठाइयां खाने से होते हैं । किन्तु यह आपत्ति सत् कारण को मानने पर ही

उपस्थित की जा सकती है और सत् की कारणता तो अनवस्था दोष-ग्रस्त है यह बात पीछे स्पष्ट की जा चुकी है। और यह भी बात नहीं है कि काल्पनिक मिठाइयों के भक्षण से तृप्ति अनुभव होती ही है। यदि इस पर प्रतिपक्षी प्रश्न करे कि असत् तृप्ति, पुष्टि आदि कार्य कैसे हो सकते हैं ? तो इसका उत्तर असत् कारण संबंधी प्रश्न के जैसा होगा। वह यह है कि कार्य सत्ता को अपने में अन्तर्भावित करे या न करे, इन दोनों स्थितियों में असत् ही होगा।

तस्मात्—

पूर्वसम्बन्ध-नियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
हेतु-तत्त्व-बहिर्भूत, सत्त्व-असत्त्व कथा वृथा।

उक्त वाद-विवाद का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार वेदान्ती की ओर से कहते हैं कि दोनों वादियों को यह बात समान रूप से मान्य है। कार्य अव्यवहित पूर्ववृत्ति–कारण होता है। इससे अधिक कुछ मानने की दोनों को आवश्यकता नहीं है। असत् कारण सत् होता है या असत् इस कार्य- कारण-भाव के स्वरूप से कोई संबंध न रखने वाली चर्चा में उलझने की किसी भी वादी को जरूरत नहीं है।

संक्षेप में, असत्--संबद्ध शब्द-प्रयोग आदि का विचार करने पर असत् है ही नहीं, या 'असत्' शब्द निरर्थक है, ऐसा समझना ठीक नहीं, एवं सत् भी सत्ता-युक्त न हो सकने के कारण वास्तव में सत् नहीं ऐसा वेदान्ती का सद्वादी के विरुद्ध तर्क है। कम से कम, किसी सत्ता के स्वीकार की आवश्यकता नहीं ऐसा सिद्ध करने में तो इस तर्क की सहायता से वेदान्ती सफल हो जाता है।

नारायण शास्त्री द्राविड़

विषय-सूची

संपादकीय		८५
१. विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत वेदान्तों की कुछ मौलिक भिन्नताएं	नारायण शास्त्री द्राविड़	८६
२. संस्कृति और समाज : अधिष्ठान की समस्या	यशदेव शल्य	९३
३. विज्ञान, पुराण और रचना-साहित्य	रमेशचंद्र शाह	१०३
४. करुणा : हमारे सांस्कृतिक प्रकर्ष का एक प्रतीक	हर्षनारायण	१२३
उन्मीलन-गोष्ठी की कार्यवाही		
५. तत्त्वमीमांसा और शल्य जी : एक टिप्पणी	राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	१३१
६. डा० भटनागर की आलोचना के प्रसंग में....	यशदेव शल्य	१३६
७. पांडेजीकृत तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन लेख : एक टिप्पणी	यशदेव शल्य	१४२
८. तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी पांडेजी के लेख पर	राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	१४७
९. करुणा : हमारे सांस्कृतिक प्रकर्ष का एक प्रतीक : एक टिप्पणी	यशदेव शल्य	१५०
१०. विचार विमर्श		१५४
१०. हर्षनारायण जी की 'करुणा'	राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	१५५
११. श्रीहर्ष-प्रणीत खण्डनखण्डखाद्य का विशद हिन्दी-अनुवाद	नारायण शास्त्री द्राविड़	१५७

आजीवन शुल्क :
व्यक्ति रु. २५०.००
संस्थाएं रु. १५००.००

वार्षिक शुल्क :
व्यक्ति रु. २०.००
संस्थाएं रु. ४०.००

दर्शन प्रतिष्ठान

पी-५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-३०२०१८

यशदेव शल्य द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए पी-५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर से प्रकाशित एवं जेक प्रिन्टर्स, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर में मुद्रित ।